श्री भागवत-दर्शन :—

भागवती कथा

सताईसवाँ खण्ड

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी प्रयाग

तृतीय संस्करण]   माघ सम्वत् २०११ वि० [illegible] मूल्य

मुद्रक—राजाराम शुक्ल सङ्कीर्तन प्रेस, वशीबट वृन्दावन।

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(छब्बीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, झूसी,
प्रयाग

●

संशोधित मूल्य २-

तृतीय संस्करण १००० } भाद्रपद सं० २०२७ { मूल्य : १.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

॥ श्री हरिः ॥

भूमिका

(अशक्त और अजितेन्द्रियों की साधना)

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥
यैःस्व देहःस्मृतो नात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मसात् ।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

वेष बनायो सुघर माँगि के खावें भिच्छा ।
परि न तजी सम्मान कनक कामिनि की इच्छा ॥
स्वारथ महँ रत रहें साधुता सब तज दीन्हीं ।
हरिके दास कहाइ आश धनिकनि की कीन्हीं ॥
घर के रहे न घाट के, हाय ! शाप वर नहिँ सफल ।
निजव्रत तजि विषयनि निरत, सुमिरत नहिँ प्रभुपद कमल ॥

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरजी से कह रहे हैं—"राजन् ! जो संन्यासी धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों की प्राप्ति कराने वाले गृहस्थाश्रम को छोड़कर फिर उन्ही का सेवन करते हैं, वे निर्लज्ज निश्चय

भूमिका

मृत्यु का भय

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्-
लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य-
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

मरन धरम यह जीव जगत कहँ इतउत भटकत ।
पाइ विषय सुख छनिक भूलि तिनहीमहँ अटकत ॥
समुझत विषयनि सत्य न कछु तिन महं सुख पावे ।
यों ही वितवत समय मृत्यु इक दिन चट आवे ॥
मृत्यु जनम के संग भई, जो जनम्यो सो मरेगो ।
हरि सुमिरन जो करेगो, मृत्यु मूड़ पग धरेगो ॥

---

*भगवान् की स्तुति करती हुई भगवती देवकी कह रही हैं—"हे आदि पुरुष प्रभो ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु रूप कराल व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोको मे भटकता फिरता है, किन्तु इसे कहीं शान्ति प्राप्त नही होती । कही भी इसे ऐसा स्थान नही मिलता जहा मृत्यु का भय न हो । भाग्यवश यदि किसी प्रकार आपके चरणों की इसे शरण मिल जाय तो उसे पाकर यह सुख की नींद सोता है मृत्यु इससे दूर हट जाती है।"

का अनादर कर रहे है, इनका दुरुपयोग कर रहे हैं। संन्यास की विधिवत् दीक्षा ली जाय, या मन से ही काम्यकर्मों का न्यास किया जाय, दोनों ही विधियों में यह संकल्प करना होता है, कि पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा तीनों का ही त्याग करेंगे। सन्यास के समय सिर पर शालग्राम रख कर बीच गङ्गाजी में नाभि पर्यन्त जल में खड़े होकर शपथ करनी पड़ती है, कि हम धन का किसी प्रकार का संसर्ग न रखेंगे, स्त्री प्रतिमा के भी दर्शन न करेंगे और तीनों प्रकार की इच्छाओं का परित्याग करेंगे।"

यदि यथार्थ में हम इस असिधारा व्रत को पालन करने में समर्थ हो सकें, तो निश्चय ही हममें आत्मिक बल की वृद्धि हो। किन्तु हम त्यागियों का वेष बना कर भी विषयों का त्याग नहीं कर सकते। अपरिग्रही कहा कर भी परिग्रह का त्याग नहीं कर सकते। उस दिन हमारे प्रान्त के एक माननीय मन्त्री पधारे थे। हमारे ठाठ-बाठ को देखकर वह हँसते-हँसते बोले—तुलसीदासजी सत्य ही कह गये हैं—

तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।

वास्तव में यही बात है. गृहस्थ तो कुछ परलोक से भी डरते हैं, दानपुण्य करते हैं, किन्तु परोपकार व्रत लेने वाले हम कितने संग्रही हो गये हैं, ये बातें कहने की नहीं। आज हमारा नैतिक चरित्र इतना गिर गया है, कि हम चोर डाकुओं से भी अधिक गिर गये है। मेरे बालकपन में मेरे ग्राम के समीप ही एक बड़ा नामी डाकू था। उसके नाम से सब लोग काँपते थे। उसकी बहुत सी कथायें हम सुनते थे। सुनते हैं—मार्ग में कोई स्त्री पुरुष जा रहे हैं। पुरुष को उसने लूट लिया। स्त्री ने कहा—"अरे, भैया! तुम क्या करते हो। हम पर दया करो।" बस, उसने "भैया" कह दिया तो वह बहिन हो गई। अब उसकी लड़की का जब भी

जाती हैं। फिर यह बात स्मरण नही रहती कि एक दिन मरना है। इतने मृतकों को नित्य देखते हैं, उनकी मृत्यु पर आश्चर्य नही होता, किन्तु जहाँ अपने किसी परिचित,सुहृद, इष्ट मित्र की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो तुरन्त चौंक पड़ते हैं और कहते है—"हैं, उनकी मृत्यु हो गई, बड़े आश्चर्य की बात है। कल तक तो वे अच्छे थे।" अब बताइये जो बात अवश्यम्भावी है, उसमे आचार्य की कौन सी बात है। आश्चर्य की बात तो यही है कि नौ छिद्र वाले इस पात्र में प्राणरूपी पय ठहरा हुआ है। घडे में एक छिद्र होता है तो उसमें पानी नही ठहर सकता। इस देहरूपी घट में तो नौ दस छिद्र है। जितने दिन इसमें प्राण ठहरा रहता है, यही एक अद्भुत आश्चर्य है। मृत्यु में कुछ देर थोडे ही लगती है। हम प्रश्वास छोड़ते हैं, साँस लेते है। एक प्रश्वास छोड़ी वह लौटकर न आयी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के लिये पहिले से कोई विज्ञप्ति नहीं दी जाती, कि अमुक दिन सावधान रहना। आकाश, पाताल, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा नरक कही भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ मृत्यु न हो। छाया की भांति सदा साथ रहती है, कब वह प्रत्यक्षहो जाय इसका कोई निश्चय नहीं। इसीलिए सन्त महात्मा बार-बार चेतावनी देते रहते हैं, कि माधव को और मृत्यु को भूलना मत। जिसे सदामृत्यु की स्मति बनी रहती है, उसे मत्यु समय पर दुःख नही होता। नही तो ऐसा सुनते हैं। सहस्रों बिच्छुओं के काटने पर जैसी पीडा होती है उससे भी अधिक पीड़ा मर्मस्थानों से प्राणों के निकलते समय होती है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही एक सबसे बडा अन्तर है। अज्ञानी तो सदा मत्यु से बचने के लिये प्रयत्नशील रहता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है,मैं सुख पूर्वक जीता रहूँ। ज्ञानीकी इच्छा यह रहती

हम कहते तो अपने को भगवान् का भक्त हैं किन्तु इन विषयों के कीड़े धनवानों मे सदा आशा लगाये रहते हैं। इनके मुँह को जोहते रहते हैं। आशा लगाये रहते हैं कोई आ जाय हमें कुछ दे जाय, तो हमारा अमुक काम चले। हम मुख से तो कहते हैं—"हम भगवान् का काम करते हैं, भगवान-जो करा रहे हैं कर रहे हैं" किन्तु इसे केवल कहते हैं इमे हृदय में अनुभव नहीं करते। हृदय में यदि अनुभव हो जाय, तो फिर हमें चिन्ता हो सकती है? एक तुच्छ धनिक के झूठे आश्वासन पर हम निश्चिन्त हो जाते हैं, तो फिर साक्षात् लक्ष्मीपति डके की चोट पर कह रहे है—'कि जो मेरा अनन्य भाव से चिन्तन करता है उसके समस्त योग क्षेम के भार को मै अपने सिर पर स्वयं ढोता हूँ, किसी दूसरे से वहन नहीं कराता।"* तो फिर इतने आश्वासन पर भी जो चिन्ता करता है उसे भगवान् पर विश्वास कहाँ? भगवान् पर विश्वास न करने पर ही आज हमारी ऐसी दुर्दशा है। हममें शाप वर देने की शक्ति नहीं रही। पहिले मुनियों की प्रसन्नता तथा कोप दोनों ही सार्थक होते थे। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा उनके सम्मुख थर-थर काँपते थे। क्या यह सम्भव था जिससे जो कह दिया उसे वह टाल सके? आज हमारे सामने लोग वचन दे जाते है घर जाकर मना कर देते है। हमें डाँट देते हैं हम चुपचाप बैठ जाते हैं क्योंकि हममें आत्मिक बल नहीं रहा, साहस नहीं रहा। धन, विषयसुख और प्रसिद्धि के दास बन

---

*अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
—गीता

तीनों दोष कुपित होकर वाणी को रोक लेते हैं उस समय उस हड़-बड़ाहट में आपका स्मरण होना असम्भव है। अतः इसी क्षण मेरा मन आपके चरण कमलों में रम जाय।" सारांश यह कि भगवद् भक्त अभी से भगवान् को हृदय में बिठा लेना चाहते है, जिन्हें देखकर मृत्यु भी दूर भाग जाय, जिनके सहारे मृत्यु के सिर पर भी पैर रखा जा सके। इसलिये साधकोंको सदा मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये, हमें एक दिन मरना है। मैंने सुना था योरोप में पहिले कोई एक ऐसा छोटा सा राज्य था। उसके राजा के यहाँ हर समय दो आदमी रहते थे और वे कुछ देर ठहर ठहर कर राजा के सम्मुख यह शब्द उच्चारण करते रहते थे—"तुम्हें एक दिन मरना है। तुम्हें एक दिन मरना है।" सचमुच में यदि मनुष्य को अपनी मृत्यु स्मरण बनी रहे, तो वह वहुत से पापों से बच जाय। मनुष्य अधिकांश पाप मृत्यु को भूलकर ही करता है।

हमें और बातों पर चाहे विश्वास न भी हो, किन्तु जब किसी की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जाता। बहुत सी युक्तियाँ देते हैं, फिर अन्त में कह देते हैं—"अजी' मृत्यु का कोई समय निश्चित थोड़े ही है। जब चाहे श्वास निकल जाय। 'कोई रुग्ण हो, रोग ग्रस्त हो, उसकी मृत्यु का समाचार सुनते है, तो कह देते है, 'अजी वे तो बहुत दिन से रोगग्रस्त थे' किन्तु जब सहसा किसी की मृत्यु सुनते हैं, तो सगे सम्बन्धियों में एक विचित्र विस्मय हो जाती है, चित्त दुविधा में फँस जाता है। अविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि मृत्यु ध्रुव है औरविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि उसकी कोई सम्भावना पहिले से नहीं थी। यदि कोई झूठी ही मृत्यु

कल्याण के लिये ही करते हैं, वे हमारे सच्चे सुहृद् हैं। तब फिर हमे अशान्ति चिन्ता कभी हो ही नहीं ※

भक्ति देवी जब अधिक चिन्तित होने लगी तब भगवान् नारदजी ने उसे बोध कराते हुए कहा था—"हे बाले! तू वृथा ही खेद करती है। इतनी चिन्ता करने की कौन सी बात है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों का चिन्तन कर, इससे तेरे सब दुःख दूर हो जायँगे। अरी, देख। जिन भगवान् ने द्रौपदी की कौरवों के कुकर्म मे रक्षा की, जिन्होंने गोपाङ्गनाओं की कामनापूर्ण की वे श्री कृष्ण कहीं चले थोड़े ही गये हैं। वे तो सबकी चिन्ता करते हैं, इसी प्रकार की बात एक संस्कृत के दूसरे कवि ने कही है–कि जिन भगवान् ने माता के गर्भ में भोजन की व्यवस्था की, वे भगवान् न तो सो गये हैं न मर ही गये हैं। उन्हीं पर विश्वास रखकर निश्चिन्त हो जाओ।' इस विषय में एक पाश्चात्य संत की बड़ी ही मनोरंजक कहानी है।

पश्चिम में कोई भगवद्‌भक्त सन्त थे। उनकी पत्नी भी भगवद् परायणा और श्रद्धावती थीं। उनका भी भगवान् पर पूर्ण विश्वास था। किसी घरेलू झंझट से एक दिन उनके पति अत्यंत ही खिन्न होकर एकान्त में चिन्तामग्न बैठे थे। उनकी पत्नी ने सोचा—"आज मेरे पति का भगवान् पर विश्वास कम हो गया है। कोई ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे इनकी चिन्ता दूर हो।" यह सोचकर उसने शोक के वस्त्र धारण कर लिये। पश्चिम में जब किसी का कोई आत्मीय मर जाता है, तो उसके शोक में लोग काले वस्त्र पहिन लेते हैं।

※ सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।
(गीता)

पं० नित्यानन्द जी भट्ट कथावाचक तथा और भी लोगों के पत्र मिले। सभी यही लिखते थे, हमने आपके विषय में बहुत ही बुरा समाचार सुना है, तुरन्त उत्तर दें, बड़ी चिन्ता है। किसी ने यह नही लिखा कि उन्होंने सुना क्या है। यहाँ से तार तो तुरन्त दिये गये, किन्तु न जाने क्यों वे दो दिन पश्चात् पहुँचे। तीन दिन तक हमारे वृन्दावन के कृपालु बन्धु चिन्ता ही में बने रहे।

यह तो मुझे विश्वास है, मेरा मृत्यु से किसी को दुःख तो क्या होने का। दुःख होता है प्रेम में। मरने को नित्य ही मरते हैं। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं उनकी मृत्यु पर किसी को दुःख नहीं होता। जिनका जीव परोपकारमय है या जिनसे जिनको प्रेम होता है उनकी मृत्यु पर दुःख होता है। प्रेम मैंने किसी से किया नहीं। बहुत रूखी प्रकृति होनेसे सभी मेरा साथ छोड़कर चले गये और मुझसे घृणा करने लगे। जब मैं किसी से प्रेम नही करता तो मुझसे प्रेम कौन करने लगा, रही परोपकार की बात सो मैं तो अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहा हूँ। इस वासना पूर्ति में कुछ उपकार हो जाय, तो वह तो गाँव जाते हुए तिनका छूनेके समान है! इसलिये मेरी मृत्यु से कोई बड़ी भारी हलचल मचेगी ऐसा तो मानता नही, किन्तु फिर भी जिनसे अपार सम्बन्ध रहा है, जो सन्त स्वभावके कारण अहैतु की कृपा रखते है उनके मनमें चिन्ता होना स्वाभाविक ही है। हमें चार पाँच दिन तक कोई समाचार मिला नही कि बात क्या थी, वृन्दावनमें किसने यह निराधार समाचार उड़ा दिया। ४, ५ दिनके पश्चात् "भक्त-भारत" के सम्पादक प्रियवर रामदास शास्त्री का पत्र आया। उससे सब बातें विदित हुईं। उनका पत्र यह था—

आज न हमारा शाप ही सफल होता है न वरदान ही। इसीलिये आज हम आध्यात्मिक शक्ति से हीन और आत्म बल से रहित है।

मैं किसी अन्य के ऊपर नहीं कहता, मैं तो अपने ही ऊपर कहता हूँ। किसी बड़े आदमी को देखते ही सर्वप्रथम हमारी दृष्टि इस बात पर जाती है कि सम्भव है यह हमें कुछ दे जाय जिस धन के दुख से दुखी होकर वह हमारे पास आया है, हम उससे उसी की इच्छा रखते, कैसी विडम्बना है, हमारे लिये कैसी लज्जा की बात है। हम मुख से तो त्याग, वैराग्य भगवत् विश्वास की बातें करेंगे, किन्तु हमारा उद्देश्य वही रहेगा, कि किसी प्रकार इसे वश मे करके इससे कुछ प्राप्त करें। हम कथा तो कहते है, संसार मिथ्या है, जगत् सपना है, धन तुच्छ है, किन्तु चढ़ावे के लिये लड़ते हैं। यह एक प्रकार का व्यापार है न स भक्त! स वे वणिक "व्यापार में तो भूठ सत्य दोनों ही बोलना पड़ता है।" सत्यानृत्ये वाणिज्यम्, यही व्यापार हम कर रहे हैं। अन्न की कपड़े की दुकान में और पुस्तकों की दुकान में कोई अन्तर नहीं।

जब हम भगवान् का आश्रय छोड़कर संसारी लोगों का आश्रय लेने लगेंगे, तो हमारा शाप तथा वर मोघ होगा ही। किसी भी मुनि ने जान में अनजान में, शाप दे दिया, दूसरे ने बताया महारज! मैं निरपराध हूँ। तो सभी मुनियो ने यही उत्तर दिया है—"हमने तो कभी हँसी मे भी—स्वप्न में भी—भूठ नही बोला अतः हमारा शाप तो पूरा होगा ही।" आज हम अजितेन्द्रिय होने से बात-बात पर भूठ बोलते हैं, फिर कैसे हमारे शाप वर सफल हों और कैसे हमारी अध्यात्मिक शक्ति बढ़े। इन सबका कारण हमारी अशक्तता तथा अजितेन्द्रि-

किस्सा बढ़ते-बढ़ते भयंकर रूप हो चला—परिणाम में जो हृदय की हालत थी—कही नही जा सकती। पर अब प्रार्थना श्री चरणों में यह है कि—आखिर यह क्या लीला है—कुछ संतों के अनुभव सुनिये—

—"ब्रह्मचारीजी के लिये एक ईश्वरीय सूचना है और प्रतिष्ठानपुर अब उनके अनुरूप नहीं रह गया है, अतः वह स्थान छोड़ देना चाहिये—भागवती कथा अन्यत्र भी लिखी जा सकती है।"

❀ ❀ ❀ ❀

—ब्रह्मचारीजी यद्यपि एक महान् कार्य में व्यस्त हैं और कार्य भी लोकातीत है—पर संसारियों की दृष्टि में एक प्रपंचमय दीख रहा है—इसी कारण लोगों की द्वेष-भावना होती जा रही है।

❀ ❀ ❀ ❀

—यह तो युग के स्वरूप का विस्तार है—अभी तो इससे भी अधिक भयकर घटनाएँ सुनने को मिलेंगी—पर इस पाप रूप युग का भी कल्याण करने वाले महात्मा ब्रह्मचारी जैसे मौजूद है। धर्म संरक्षकों पर ही इसका प्रहार होता है—जैसे राजा परीक्षित पर।

❀ ❀ ❀ ❀

—इस तरह की घटनाएँ महापुरुषों के रूप के अनुकूल हैं, इससे महत्व चमकता है।

इस घटना से ब्रह्मचारीजी को अमरत्व प्राप्त हुआ है—भगवान् उनका कल्याण करें।

कृपया हस्तलिखित पत्र से भी सूचित कर कृतार्थ करें।

रामदास शास्त्री

एकादशी व्रत की उत्पत्ति कथा

[६१५]

व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ।
स्नातः कदाचित् कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० ३०, श्लो०)

छप्पय

सुरनि कह्यो सुर करैं पाप हरि चले हननकूँ ।
सोच्यो एक उपाय असुर खल के मारन कूँ ॥
बदरीवन की गुफा माँहिँ सोये खल आयो ।
तनुतैं कन्या निकरि असुर को मारि गिरायो ॥
सोई एकादशी तिथि, पावन अति जग महँ भई ।
पाप नाशिनी मुक्तिप्रद, श्रीहरि ने सो करि दई ॥

जो शास्त्र की विधि है, उसका पालन शास्त्राज्ञा समझकर करना चाहिये । कुछ लोग कहते हैं, एकादशीव्रत करने से पेट ठीक रहता है, पाचन शक्ति नहीं बिगड़ती, इसलिये पक्ष में एक

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! महाराज अम्बरीप ने सम्बत्सर एकादशी व्रत के अनन्तर कार्तिक महीने में तीन दिन उपवास किया और यमुना जी में स्नान करके मधुवन में भगवान् की पूजा की ।

भागवती कथा की बात सो वह कहने योग्य नहीं है। वर्ष के अन्त में पाँच छै सहस्त्र का घाटा होता है। उसे घाटा कहना भी उचित नही। उसकी दक्षिणा से जो कुछ आता है उसे सब लोग खा जाते है। अन्न आ जाता है ऊपरी कार्यों में व्यय हो जाता है। नित्य डाकघर की आशा लगाये लोग बैठे रहते है, आज कुछ आ जाय तो दाल आ जाय नमक आ जाय। वर्ष के अन्त मे जो घाटा हो जाता है, भगवान् किसी न किसी से पूरा करा ही देते है। प्रथम वर्ष में देहली के लाला सूरजनारायणजी ने अपने इष्ट मित्रों से कर करा के ५-७ हजार रुपये से उसे पूरा किया। दूसरे मे झरिया के वीरम बाबू ने पाँच हजार देकर गाड़ी चलायी। अब तीसरे वर्ष भी पस्टम चल रही है। रही मेरी बात सो, मेरे परिचित सभी जानते है मेरे कुछ कृपालु महानुभाव हैं, जिनसे मैं किसी से चार पैसे किसी से दो पैसे नित्य के भिक्षा ले लेता हूँ। ऐसे कुछ "भिक्षा सदस्य" हैं। पहिले लोग उत्साह और श्रद्धा से देते थे। जबसे "भागवती कथा' का व्यापार आरम्भ हुआ है। लोगों की श्रद्धा घट गयी है। सब सोचते हैं—"अब तो ये व्यापार करने लगे हैं। जैसे हम वैसे ये इन्हें भिक्षा देने से क्या लाभ ?" इसलिये बहुत से बन्द भी कर दिये है। फिर भी कुछ बगीचे में साग भाजी बो लेते हैं। लस्टम पस्टम काम चल ही जाता है। मेरा जो व्यापार है, उसमें या तो घाटा ही घाटा है या लाभ ही लाभ है। घाटा तो इसलिये कि कभी इसमें आर्थिक लाभ न होगा। दश आय होगी, तो बीस व्यय होंगे। लाभ इसलिये हैं, कि जो भी कमी पड़ेगी चाहे ऐं करके करें चाहें चें करके, लोगों को पूरी ही करनी होगी। इसलिये हमें तो लाभ ही लाभ है नदी में नौका डूबती है, तो मल्लाह की तो केवल लँगोटी ही भीगती है। ऐसी दशा में यहाँ डाका डालकर कोई क्या लेगा। जानते हुए भी सन्देह

एक बार वे सब मिलकर भूतभावन भगवान् भूतनाथ भवानीपति की शरण में गये। दंडवत् प्रणाम करने के अनन्तर उन्होंने उदास मन से शिवजी के समीप अपना दुख रोया। सब कुछ सुनने के अनन्तर भगवान् पशुपति ने कहा—"देखो, भैया! यह पालन और दुष्टनाशक सम्बन्धी कार्य विष्णु भगवान् के अधीन है, तुम सब उन्ही के समीप जाओ; वे जो उचित समझेंगे वही करेंगे। यह उनके ही विभाग का काय है।

देवता यह सुनकर शिवजी को प्रणाम करके क्षीरसागर की ओर चले। वहाँ जाकर उन्होने भगवान् को शेष शैया पर सुख से शयन करते हुए देखा। भगवान् अपने कमल नयनों को मूँदे हुए थे। देवताओं ने गद्‌गद कंठ मे भगवान की स्तुति की। उनकी स्तुति सुनकर भगवान् ने अपने नयनो को कुछ कुछ खोला और पूछा—"देवताओं! तुम लोगों पर क्या क्लेश पड़ा है।"

देवताओं ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"अजी महा-राज! हम अपने दुःख के सम्बन्ध में क्या कहें। मुर नामक दुष्ट दैत्य ने हमें स्वर्ग से मार भगाया है। इन्द्रासन पर तथा समस्त लोकपालों की पुरियों पर उसने स्वयं ही अपना अधिकार जमा लिया है।" यह सुनकर भगवान् बोले—"देवताओं! तुम चिन्ता मत करो। मैं उस दुष्ट दैत्य को अवश्य मरवा डालूंगा। तुम आगे-आगे चलो, मुझे उसका स्थान बताओ।"

सूतजी कहते—"मुनियो! भगवान् का आश्वासन पाकर देवता गर्जना करते हुए उस चन्द्रावती पुरी में पहुँचे जहां वह मुर दैत्य रहता था। देवताओं ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। देवताओं की ललकार सुनकर वह विश्वविजयी असुर अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर देवताओं से लड़ने आया। देवताओं ने भी डटकर युद्ध किया, किन्तु उसने अपने अस्त्रों से सभी को मार

शत्रुवत् बन जाते हैं। प्रपञ्चमें रागद्वेष तो रहता है। जो साथियों के सहारे काम करता है,उसे पछताना पड़ता है। कोई भी काम करने वाला हो उसे सर्वप्रथम अपने साथियों के विरोध के लिए उद्यत होकर हो उस कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिये।

आज का युग बड़ा भयंकर है। आज जो भी हो जाय,सोई थोड़ी। हम मुँह से तो धर्म कहते है। स्वयं हमारी धर्म में आस्था नहीं रही। हम अपने को ब्रह्मचारी कहते है, किन्तु शास्त्रों में जो सन्यासी ब्रह्मचारी के धर्म बताये हैं, उनमें से सौ अंशों में से एक अश का भी पालन नहीं करते। "यदापि युवती क्षिभर्नस्पृशेदार वीमपि" आदि जो धर्म हैं उनका पालन नहीं कर सकते। जिस क्षेत्र मे भी दृष्टि दौड़ाते है उधर ही दुराचार, कदाचार, दम्भ, कपट, पाखण्ड और अधर्म हो रहा है। इसमें दोष दे भी चाहें, तो किसी से एक हो तो उसे दोष दें यह तो कूप मे भाँग पड़ गया है। भीड़ मे हम चलते हैं, हम पीछे वालों पर क्यों बिगड़ते हैं, "अजी, हमें धक्का क्यों दे रहे हो किन्तु आगे वालोंको हम भी धक्का दे रहे है इस बातको हम भूल ही जाते हैं। आगे वाला जब हमसे बिगड़कर पूछता है "क्यों जी धक्का क्यों देते हो ?" तो हम उससे भी अधिक बिगड़कर कहते हैं— "भाई, अब कैसे करे पीछे वाले दे रहे है।" इसी प्रकार हम स्वय धर्म का आचरण नहीं करते। दूसरों को बुरा भला कहते है, अरे ! वे सर्वनाश कर रहे है, धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसमे दोष किसे दें। "अयन्तु युगधर्मोहि वतते कस्य दूपणम्।"

अन्त में पाठकों से मेरी प्रार्थना यही है, कि ये सभी घटनाएँ जीवके कल्याण के ही लिये होती हैं। भगवान् की इच्छा से ही होती हैं, इनमें उपदेश भरा रहता है। जीव के लिये चेतावनी होती है, पाठक ऐसा आशीर्वाद दें, कि मैं मृत्यु का

थे। बद्रीनारायण के समीप ही एक सिंहावती नाम की बारह योजन लम्बी चौड़ी गुफा थी। भगवान् उसी में जाकर छिप कर सो गये। योगनिद्रा में आँखें बन्द करके सोने का तो भगवान् को पुराना अभ्यास पड़ा ही है। वहाँ सोते ही खुराटे भरने लगे।

मुर ने सोचा—"अभी-अभी वे विष्णु यहीं थे। इतनी ही देर में कहाँ छिप गये।" यही सोचकर वह पहाड़ों की गुफाओं में खोजता हुआ सिंहावती गुफा में गया। वहाँ जब उसने भगवान् को शयन करते हुए देखा, तो बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—"हत्या की जड़ ये विष्णु ही हैं। ये असुरों के द्रोही और सुरों के पक्षपाती हैं। जब भी देवताओं पर कुछ संकट पड़ता है, ये तुरन्त दौड़े आते हैं। आज मैं इन्हें मारकर दैत्यों को निर्भय बना दूँगा। मुझसे छिपकर कहाँ जा सकते हैं।" यही सोचकर भगवान् को मारने के लिये उसने उस विशाल गुफा में प्रवेश किया। ज्यों ही उसने भगवान् पर प्रहार करने का विचार किया, त्यों ही उनके शरीर से एक परम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई। उसका तेज अपरिमेय था, वह समस्त अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थी। उसने अपनी वीणा विनिन्दित मधुर किन्तु दृढ़ता से भरी वाणी में कहा—"असुरराज! तुम क्या करना चाहते हो?"

मुर ने कहा—"मैं अपने शत्रु इस माधव को मारूँगा।"

कन्या ने कहा—'हे दानवेन्द्र! तुम वीर हो। वीर पुरुष सोते हुए पर प्रहार नहीं करते।"

असुर ने कहा—"मैं सोते हुए पर प्रहार न करूँगा। इन्हें जगाकर युद्ध करूँगा और युद्ध में परास्त करके ही मारूँगा।"

कन्या ने कहा—"ये जब तक तनिक विश्राम करलें तब तक तुम मुझसे ही दो-दो हाथ कर लो।"

महाराज हरिश्चन्द्र का उत्तर चरित्र

सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ७ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

मुनि रोक्यो मग कह्यो साङ्गता धन अब दीजै ।
नृप बोले—मुनि ! एक मास धीरज अरु कीजै ॥
यों कहि काशी गये कपर्दी की रजधानी ।
अवधिपूर्ण लखि पहुँच गये कौशिक अभिमानी ॥
द्रव्य याचना करी मुनि, नृप रानी विक्रय करी ।
रोहित हूँ बेच्यो स्वय बिके दक्षिणा द्विज भरी ॥

धैर्य की परीक्षा विपत्ति में होती है, सहन शीलता की परीक्षा क्रोध और अपमान के समय होती है और त्याग की परीक्षा दरिद्रता के समय होती है । ये संसारी धन वैभव आते

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महारास हरिश्चन्द्र की अपनी स्त्री के सहित सत्य मे ऐसी निष्ठा और दृढ़ता देखकर विश्वामित्र जी परम प्रसन्न हुए और उन्हे तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया ।"

हे सर्वेश्वर ! मुरारे ! हे भक्तवत्सल ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे ये ४ वर दीजिये। १—एक तो यह कि मैं सभी तीर्थों से श्रेष्ठ मानी जाऊं। २—दूसरा यह कि मुझमें समस्त पाप ताप और विघ्नों का विनाश करने की सामर्थ्य हो। ३—तीसरा यह कि मैं सभी प्रकार की सिद्धियों को देने में समर्थ होऊँ और ४—चौथा यह कि मै आपके नाम से प्रसिद्ध होऊँ। जो लोग मेरे दिन को आप में भक्ति रखते हुए श्रद्धासहित जागरण पूर्वक उपवास करें उन्हें सभी सिद्धियां प्राप्त हों। जो निराहार उपवास न रह सकें और एक समय भोजन या रात्रि में ही कुछ फलाहार आदि करें तो उन्हें भी आप धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्रदान करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वह देवी और कोई नहीं थी, साक्षात् एकादशी देवी ही थी। भगवान् ! उसके इन वरों से बड़े प्रसन्न हुए और बोले—' हे शोभने ! ऐसा ही होगा। आज से तुम संसार में "हरिवासर" कहलाओगी। जो लोग तुम्हारा व्रत करेंगे उनके लिये संसार में कोई भी पदार्थ दुर्लभ न होगा प्रत्येक पक्ष में तुम्हारा एक दिन होगा। तुम एकादशी तिथि की अधिष्ठातृ देवी होगी। इसलिये संसार मे तुम एकादशी के नाम से विख्यात होगी और भुक्ति मुक्ति प्रदायिनी समझी जाओगी" मुनियों ! ऐसा वरदान देकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। तभी से संसार में एकादशी व्रत का इतना माहात्म्य हुआ।

किसी-किसी का कहना है कि समुद्र मथन के समय जब अमृत निकला था, उस दिन एकादशी ही थी। उस दिन भगवान् की आज्ञा से सभी ने उपवास किया, दूसरे दिन देवताओं ने अमृत पान किया। इसलिये भी एकादशी का बड़ा महात्म्य है।

राजा बोले—"प्रिये ! मैं धर्मपाश में बँधा हूं, मुझे किसी ने बाँध नहीं लिया है, सत्य ने मुझे बाँध रखा है। अब मेरे सामने सत्य रक्षा का प्रश्न है।"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ ! प्राण देकर भी सत्य की रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मण को वचन देकर उसका पालन करना चाहिये, जिस बात की प्रतिज्ञा की हो, उसे सामर्थ्य रहते पूरी करनी चाहिये।"

राजा बोले—"प्रिये ! यही तो मुझे चिन्ता है, कि किस प्रकार सत्य का पालन करूँ ?"

रानी बोली—हे जीवन धन ! मैं आपकी दासी हूँ, आज्ञा कारिणी हूँ, आपके अधीन हूँ, आप मुझे बेच दें और उसी द्रव्य से महामुनि को सन्तुष्ट करें।"

यह सुनते ही महाराज मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर गये, और बड़े ही आर्त स्वर मे बोले—"प्रिये ! तुम ऐसी बातें मुख से मत निकालो। अश्वमेध यज्ञों मे जो केश वेद के मंत्रों द्वारा दिव्यौषधि महौषधि के जलों द्वारा भिगोये गये हैं, उन्हें मैं अपने देखते दूसरों को कैसे छूने दूँगा।"

इस पर रानी बोली—"हे धर्मज्ञ ! धर्म के सम्मुख धन, धान्य बान्धव, स्त्री, बच्चे यहाँ तक कि प्राणों का भी कोई महत्व नहीं। मुझे पुत्र हो चुका है, आप धर्मतः पितृ ऋण से उऋण हो चुके हैं अतः आप कुछ द्रव्य लेकर मुझे किसी को दासी बना दें।" धर्म की रक्षा के लिये सब कुछ करना होता है।"

यह सुनकर राजा रो पड़े और रोते रोते बोले—"जिसकी दास दासियाँ भी सुवर्ण के कुण्डल पहिन कर आज्ञा चलाती थी, अपने हाथों कुछ काम नहीं करती थी, वही सम्राज्ञी शैव्या सेविका बन कर साधारण से साधारण सेवा कैसे कर सकेगी ?

श्री हरि समस्त वांछित फल देते हैं। उसके लिये भुक्ति मुक्ति कुछ दुर्लभ नहीं है। महाराज अम्बरीष ने इन सब एकादशियों का रानी के सहित विधि विधान पूर्वक १२ वर्ष तक व्रत किया था। इस व्रत का आरम्भ मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष में जो उत्पत्ति नाम की एकादशी होती है उसमे होता है। और कार्तिक शुक्ल पक्ष की प्रबोधिनी एकादशी को जिसे देवोत्थापिनी एकादशी भी कहते हैं उस दिन इसकी समाप्ति होती है। महाराज अम्बरीष इसी कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी को मथुरा जी में यमुना तट पर उद्यापन कर रहे थे। राजा की एकादशा व्रत मे वैसी ही निष्ठा थी, जैसे महाराज रुक्माङ्गद की थी।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने एकादशी की उत्पत्ति और सभी एकादशियों के नाम तो हमें सुना दिये, किन्तु एकादशी व्रतनिष्ठ महाराज रुक्माङ्गद का चरित्र नही सुनाया। कृपा करके पहिले परम भागवत महाराज रुक्माङ्गद का चरित्र सुनावें तब राजर्षि अम्बरीष के अग्रिम चरित्रों को कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! पहिले मैं आपको महाराज रुक्माङ्गद का ही चरित्र सुनाता हूँ आप इसे श्रद्धा सहित सुनें।"

छप्पय

हरिवासर उपवास करैं ते नरक न जावैं।
ऋद्धि सिद्धि सम्पत्ति सहज फल चारों पावैं॥
रुक्माङ्गद भूपाल राज्य महँ व्रत करवावैं।
सब राखैं उपवास दार, सुत सहित न खावैं॥
सप्तद्वीप के अधिप नृप, सबई आज्ञा सिर धरैं।
कछु भय वश कछु भक्ति तैं, हरवासर सब व्रत करैं॥

पत्नी भी किसी उच्चकुल में उत्पन्न परम सुन्दरी है, फिर तुम इसे बेचना क्यों चाहते हो ?"

रोते-रोते राजा बोले—"भाइयो ! तुम मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हो ? तो मेरा परिचय इतना ही पर्याप्त है, कि मैं परम क्रूर पुरुष हूँ । आकृति मेरी पुरुषों की सी है, किन्तु मैं हिंसक क्रूर कर्मा नर पशु हूँ । नहीं तो भला सदा अपने अनुकूल रहने वाली, मुझसे प्राणों से भी अधिक प्यार करने वाली अपनी पत्नी को भला कौन सज्जन पुरुष बेचेगा ?"

महाराज इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में ही एक वाचाल ब्राह्मण वहाँ आ गया । उसके त्रिपुण्ड, दुपट्टे, डण्डे को देखकर सभी सहम गये । उसने आते ही पूछा – "क्या बात है ?"

लोगों में से कुछ ने कहा—"ये सज्जन अपनी इस परम सुकुमारी नारी को दासी कर्म के लिये बेचना चाहते हैं ।"

ब्राह्मण ने पूछा—"क्या लोगे भाई ! तुम इसका ?"

यह सुनकर राजा का हृदय फटने ही वाला था कि वे सम्हल गये और अत्यन्त ही धैर्य के साथ बोले—"आप जो भी दे दें ।"

ब्राह्मण बोला – "मेरी स्त्री अत्यन्त ही सुकुमारी है, उससे घर का काम काज होता ही नहीं । मैं बहुत दिनों से एक दासी की खोज में था, मेरे अनुरूप कोई मिली नहीं । अच्छी बात है, यह मेरे यहाँ काम किया करे । लो, इसके बदले इतना द्रव्य मैं आपको देता हूँ ।"

यह कहकर ब्राह्मण ने कुछ सुवर्ण मुद्रायें राजा के वल्कल वस्त्रों में बाँधी और वे रानी का हाथ पकड़ कर ले चले ।

मनुष्य अपने जीवन में किसी एक शुभ विषय में पूर्ण निष्ठा करले, तो उसी में उसका बेड़ा पार है। भक्तमाल आदि ग्रन्थों में ऐसी असंख्यों कहानियाँ है कि निष्ठावानों ने अपनी सच्ची-निष्ठा के प्रभाव से असम्भव बात को सम्भव कर दिया है। जो चाहा है वही प्राप्त किया है। भगवान् निष्ठावानों की भाँति-भाँति से परीक्षा लेते हैं कि यह अपनी निष्ठा में दृढ़ है या नहीं। या दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि विपत्ति का दान देकर भगवान् निष्ठा को पुष्ट करते हैं। निष्ठारूपी वृक्ष में विपत्ति रूप वारि न दिया जाय तो उसकी जड़ें दृढ़ होती नहीं। तनिक सा झोंका लगने से उसके गिर जाने का भय है। इसलिये निष्ठावान् पर जो विपत्तियाँ आती हैं, वे उसके हित के ही निमित्त होती हैं। सुवर्ण को जितना ही तपाया जाता है, वह उतना ही खरा निकलता है। निष्ठा के ऊपर जो स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, राज्य यहाँ तक कि सर्वस्व को निछावर कर देते हैं वही सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रकट हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे एकादशी व्रत-निष्ठ राजर्षि रुक्माङ्गद का चरित्र पूछा। उन धर्मात्मा विष्णु भक्त भूपति का वृत्तान्त मैं आप सबको सुनाता हूँ। महाराज रुक्माङ्गद इस सप्तद्वीपा वसुमति के एक मात्र अधिपति थे। उनकी एकादशी व्रत में ऐसी निष्ठा थी कि उस दिन वे किसी को भी अन्न नहीं खाने देते थे। यहाँ तक कि अपने हाथी घोड़ाओं को भी घास नहीं देते थे। एकादशी के एक दिन पहिले ही वे हाथी पर बड़ा नगाड़ा रखवा कर सुवर्ण के डंके से चोट कराते हुए सर्वत्र ढ्योढ़ी पिटवाते थे कि कल एकादशी है। ८ वर्ष से ऊपर के और ८५ वर्ष के नीचे तक के जो स्त्री पुरुष व्रत न करेंगे, वे मेरे दंड के भागी होंगे। बालक बूढ़े और रोगियों को छोड़कर

जा रहा है, तो उसने कसकर अपनी माँ का पल्ला पकड़ लिया और वह ढाह बाँधकर रोने लगा–माता का भी हृदय भर आया, उसने रोते-रोते कहा–' बेटा ! अब मुझे तुम क्यों छूते हो, अब तो मैं दासी हो गई तुम तो राजवंशोद्भव हो। आज तुम पेट भरके अपनी जननी को निहार लो। अब तुम्हारी माता दासी हो गई है।"

ब्राह्मण ने जब देखा कि करुणा का दृश्य अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, तो उन्होंने डाँटकर रानी से कहा तू चलती है या मोह ममता करती है। यह कह कर उसने रानी को एक धक्का दिया। फिर भी रोहित ने अपनी माँ का पल्ला न छोड़ा वह किढिरता हुआ माँ के पीछे हो लिया। ब्राह्मण ने उस बालक को माँ से बलपूर्वक विलग करना चाहा, किन्तु बच्चा और भी अधिक रोने लगा। तब रानी ने अत्यन्त करुण स्वर में कहा—"पिताजी ! यदि आपकी कृपा हो तो आप इस बच्चे को भी मोल ले लें। मेरे बिना यह दुखी रहेगा और इसकी याद में मैं चिन्तित रहूँगी, जिससे आपके घर का काम भी भली भाँति न कर सकूँगी यदि यह रहेगा, तो हम दोनों ही आपके घर के कामों को किया करेंगे।

ब्राह्मण की बुद्धि में यह बात धँस गई। तुरन्त ही कुछ सुवर्ण मुद्रा राजा के वल्कल उत्तरीय मे बाँध कर बोला–' अच्छा लो, इस बच्चे को भी मुझे दे दो।" यह कह कर वह माता और पुत्र को लेकर चल दिया। इधर महाराज हरिश्चन्द्र कटे वृक्ष की भाँति मूर्छित होकर गिर पड़े। रानी बार बार मुड़कर महाराज की ओर निहारती जाती थी। राजा के नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वे चिल्ला रहे थे हा प्रिये ! हा वत्स!

यमराज ने अत्यन्त दुःख के साथ कहा—'ब्रह्मन्! क्या बताऊँ आज कल पृथ्वी पर महाराज रुक्माङ्गद राजा हो गये हैं। उन्होंने सब गुड़ गोबर कर दिया। वे एकादशी के दिन किसी को अन्न खाने ही नहीं देते। सभी से उपवास कराते हैं। जिसने एकादशी को उपवास कर लिया, रात्रि जागरण किया, भगवान् की पूजा की, वह मेरे यहाँ आने ही क्यों लगा। इसीलिये मेरा लोक आज शून्य हो गया। जो पुराने पापी थे, उनके निमित्त उनके सम्बन्धियों ने व्रत किया कराया। इससे वे भी नरक से निकल गये। अब मैं यहाँ अकेला बैठा-बैठा मक्खी मारता रहता हूँ, ये लेखक चित्रगुप्त अपनी बहियों को आगे रखे कान में लेखनी लगाये ऊँघते रहते है। इनका मसीपात्र सूख गया लेखनी व्यर्थ बन गई। अब आप ही बताइये, मैं तो ब्रह्माजी के यहाँ त्यागपत्र देने के लिये जाने वाला हूँ।

नारदजी ने कहा—'ब्रह्माजी के अतिरिक्त इसका उपाय कौन कर सकता है, चलिये उन्हीं की शरण चलें।''

नारदजी की ऐसी सम्मति सुनकर यमराज ने अपना बाना पहिना, त्याग पत्र लिखा और ब्रह्मलोक को नारदजी के साथ चल दिये। उनके पीछे बही खाते को बगल में दबाये मसीपात्र और लेखनी को लिये चित्रगुप्तजी भी अपनी कमर को लचकाये हुए चले। जब ये तीनों ब्रह्माजी की सभा में पहुँचे, तो सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इन यमराज को तो एक क्षण भर का भी अवकाश नहीं मिलता था। रात्रि दिन पापियों को दण्ड देने में ही बीतता था। आज ये अपने मुनीम के सहित कैसे आये है।

वे सब लोग यह सोच ही रहे थे कि यमराज ने लोक पितामह के चरणो में प्रणाम किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर यम-

तब राजा ने कहा—"भगवन् ! मेरी स्त्री मेरा प्यारा पुत्र तो विक गये अब मेरा शरीर शेष रह गया है। अतः आप उसे बेच कर जो मिले उसे लेकर सतुष्ट हो जायँ।"

मुनि ने कहा—"चाहे जैसे हो, मुझे तो यथेष्ट धन मिलना चाहिये मैं जाता हूँ अब मैं सूर्यास्त के समय ही आऊँगा। यह मेरा अन्तिम आना होगा, उस समय तक आपने मुझे यथेष्ट दक्षिणा दे दी तब तो कोई बात ही नहीं। यदि न दे सके तो मै तुम्हे शाप देकर भस्म कर दूँगा।"

यह सुनकर राजा मूर्छित हो गये। उन्होने धर्म का स्मरण करके अपने को सम्हाला। उसी समय वहाँ धर्म चाँडाल आ उपस्थित हुआ। महामुनि ने दुर्वासा के शाप से धर्म को तीन स्थानों में जन्म लेना पड़ा। एक तो युधिष्ठिर के रूप में,एक दासी पुत्र विदुर के रूप मे और एक काशी में प्रबीर चाँडाल के रूप में।

महाराज हरिश्चन्द्र अपने को बेचने के लिये चिल्ला रहे थे कि वहाँ प्रवीर चाँडाल आ पहुँचा। उसका शरीर काला था। बाल कड़े और ताम्बे के वर्ण के थे,मुख भयकर और माथा छोटा था, नाक चिपटी हुई, आँखें गोल छोटी पीलापन लिये हुए रूखी और कठोर थी। छाती बड़ी और कड़ी थी, पेट लम्बा था, पैर छोटे थे, चर्म मोटा और भैंसे के समान था। झोली मे बहुत से मरे पक्षी भरे थे। मुर्दे के ऊपर के वस्त्रों को पहिने या तथा मुर्दों के ऊपर चढ़ी हुई मालाओं से उसने अलंकार कर रखा था। नरमुण्डों की माला पहिने और हाथ में नरकपाल लिये हुए वह कुत्तों से घिरा निर्भय चला आ रहा था। उसकी देह से दुर्गन्ध निकल रही थी। उसकी आकृति-प्रकृति क्रूर थी। आते ही उसने कहा—"मुझे एक दास की आवश्यकता है यदि

'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजी को प्रणाम कर मोहिनी वहाँ से चलदी और मन्दराचल पर्वत पर जाकर एक शिव मन्दिर में बड़े ही स्वर से वीणा बजाकर कामवर्धक गीत गाने लगी। तथा अपनी स्वर लहरी से उस वन्य प्रदेश को सरस रागमय बनाने लगी।"

इधर महाराज रुक्मागद अपने पुत्र धर्मांगद को राज्य का भार सौंपकर और अपनी पतिव्रता सती साध्वी पत्नी सन्ध्या वली से अनुमति लेकर एक दिव्य अश्व पर चढ़कर वन विहार के लिये मन्दराचल पर्वत की ओर चले। वे नाना वन उपवनों तथा सरिताओं के तटों पर घूमते फिरते मन्दराचल की शोभा निहारते हुए उस शिवालय के समीप पहुँच गये, जहाँ मोहिनी अपने मोहक राग से वीणा बजाकर गा रही थी। उस अत्यन्त सरस चित्ताकर्षक संगीत को सुनकर राजा अवश हुए, बिना प्रयत्न के उधर चले गये, वहाँ जाकर जो उन्होंने सुन्दरता की साकार मूर्ति उस मनोरमा मोहिनी को देखा, तो देखते ही वे काम बाणों से बिद्ध हो गये, उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही। अचेतन में होकर वे मुर्छित होकर मन्दिर के प्रांगण में ही पड़ गये।

उस ललना ललाम ने जब मदन बाण से आहत उन भूपति को अचेतनावस्था में अस्त व्यस्त पड़े देखा, तो वह वीणा रखकर उनके समीप आई और वीणा विनिन्दित स्वर में कहने लगी—"हे पुरुष श्रेष्ठ! हे विरागमय! आप उठिये, उठिये! प्रभो! मैं आपको ही पाने के निमित्त आशुतोष भगवान् उमा-पति की उपासना कर रही थी। हे नरव्याघ्र! मैं स्वयं साक्षात् ब्रह्माजी की मानसी कन्या हूँ। बड़े-बड़े देवता, गन्धर्व, विद्याधर आदि मुझसे विवाह करना चाहते थे, किन्तु मैं आपकी पुण्य

इसीलिये अब मैं अपने को भी बेचना चाहता हूँ, यह चांडाल कहता है, मेरे हाथ बिक जाओ।"

मुनि ने कहा—"बिकना तो तुम्हें है ही, जब यह तुम्हें द्रव्य दे रहा है, तब क्यों नहीं बिक जाते ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मृतकों के वस्त्रों से आजीविका करना परम निन्दनीय कर्म है। चांडाल कर्म परम निन्दनीय बताया है। आप मुझे चांडाल के हाथों क्यों बेचते है ? कहीं अन्यत्र मुझे बेचकर द्रव्य ले लें। या शेष द्रव्य के बदले आप ही जीवन भर मुझे अपना दास बना लें, मै आपकी सदा सेवा करता रहूंगा।"

मुनि ने कहा—"मेरे पास तो सेवक बहुत है, मुझे सेवकों की कमी नहीं। मुझे तो यथेष्ट द्रव्य चाहिये।"

चांडाल ने कहा—"द्रव्य तो मैं चाहे जितना दे सकता हूं।"

मुनि बोले—"तब और क्या चाहिये। जाओ मैंने इन्हे तुम्हारे हाथो बेचा। इतनी लाख सुवर्ण मुद्रा तुम मुझे दो।"

चांडाल ने मुनि का मुहमांगा द्रव्य उन्हे दे दिया। राजा विवश थे, धर्मपाश में बंधे थे। अत. वे कुछ भी नहीं कह सके। चाडाल राजा को बांध कर अपने घर की ओर ले चला। महाराज पशु के समान मुख नीचा किये हुए चांडाल के साथ चले गये। उन्होंने राजा होकर भारी से भारी अपमान, बड़े से बड़ा कष्ट सहन करना तो स्वीकार किया, किन्तु सत्य धम को छोड़ने की बात उनके मन में भी नही आई। वे धर्मपाश मे जकड़े हुए थे, चांडाल उन्हें अपने घर ले गया।

तो आप से यही प्रतीज्ञा करानी है, कि आप मुझे एक वर दे, जब भी मैं आप से जिस एक कार्य को करने को कहूँ उसे आप अवश्य कर दें।"

राजा ने उल्लास के साथ कहा—"प्रिये! यह तुम क्या कह रही हो। मैं प्रतिक्षण तुम्हारी समस्त आज्ञाओं का पालन करता रहूँगा। मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कार्य न करूंगा। मैंने आज तक कभी झूठ नहीं कहा है, मैं तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ, प्रीतज्ञा पूर्वक कहता हूँ।"

राजा के इस प्रकार कहने पर और दृढ़ प्रीतज्ञा कर लेने पर महाराज का मोहिनी के साथ विधि-विधान पूर्वक विवाह हो गया और वे दोनों आनन्द के साथ मन्दराचल की रमणीय उपत्यकाओं में आमोद प्रमोद और विहार करने लगे। उन्हें आनन्द के कारण यह भी नही होता था, कि कब दिन हुआ, कब रात्रि हुई।

दो चार दिनों के पश्चात् राजा ने सोचा कि मुझे अपनी नगरी की ओर चलना चाहिये। अब एकादशी आने वाली है चल कर घर पर व्रत करना है।" ऐसा सोचकर और वे मोहिनी को अनेक प्रकार से समझा बुझाकर घर के लिये चल दिये। दिव्य घोड़े के प्रभाव से वे कुछ ही देर में अपने नगर के समीप पहुँच गये।

पुत्र धर्माङ्गद ने जब देखा मेरे पिता आ रहे हैं, तब वे अपने अनुचरों के सहित शीघ्रता से उनकी अगवानी करने गये, दूर से ही उन्होंने पिता के चरणों में प्रणाम किया, अपने पुत्र को साष्टांग प्रणाम करते देखकर राजा शीघ्रता से घोड़े से उतर पड़े और पुत्र को बल पूर्वक पृथ्वी से उठा कर छाती से चिपटा लिया। संसार में पुत्र स्पर्श से बढ़कर कोई स्पर्श नही। आज

शवो की दुर्गन्ध से वह स्थान भरा रहता था। चारों ओर हड्डियाँ बिखरी रहती थी, बहुत सी खोपड़ियाँ इधर उधर टकराती रहती थी। बड़ेबड़े कछुए मृतक शरीरो के माँस को खाने के लिए किनारो पर मुँह निकाले पड़े रहते थे। आधे जले या वैसे ही पडे मृतको को सियार चौथते रहते थे। बहुत से मृतक शरीर सड जाते, उनमे से दुर्गन्ध निकलती रहती, उन्हें कुत्ते सियार गीदड भी नही खाते थे,उन्हे पास से महाराज को फेंकना पड़ता कुछ जले कुछ अधजले मृतकों को खीच कर मोटे मोटे कुत्ते खाते रहते। बहुत से गिद्ध काक अपने परों को फटफटाते भयकर शब्द करते इधर से उधर दौड़ते रहते। भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, साकिनी, आदि वायु के आधार से रहने वाले सूक्ष्म शरीर के प्राणी वहां के वृक्षों पर रहकर हँसते खेलते और भयकर शब्द करते थे। वहाँ निरन्तर लोग आते जाते रहते थे। किसी का पुत्र मर गया है, तो उसके परिजन हा ! पुत्र ! हा ! मेरे लाल ! कह कर डकरा रहे है, कोई अपने मित्र का नाम लेकर रो रहा है, कोई माता पिता के लिए आँसू बहा रहा है. कोई स्त्री के वियोग मे तड़प रहा है, कोई सन्तान के मरने पर बिलबिला रहा है, चारो ओर करुण क्रन्दन ही क्रन्दन सुनाई पड़ता था। वहाँ निद्रा किसी प्रकार भी नही आ सकती थी। कभी कभी माँस भोजी पशु पक्षी महाराज को सोता देखकर उन्हें भी मृतक समझ कर काट लेते। महाराज तत्क्षण उठ बैठते कोई भी मृतक आता, किसी भी समय आता, महाराज तुरन्त उठकर जाते, उसे अग्नि देते, पैसा लेते और उसके ऊपर के वस्त्र को लेकर सुरक्षित रखते। उन्हें इस बात का सर्वदा ध्यान रहता था,कि मेरे स्वामी चांडाल का काम सावधानी से होना चाहिये। उसमें छल, कपट या प्रवञ्चना न होने पावे।

इस प्रकार उस अत्यंत भयंकर श्मशान भूमि मे जिस किसी

ब्रह्माजी की पुत्री हैं, त्रैलोक्य सुन्दरी हैं और सबसे बड़ी बात यह है, कि हमारे पूज्य पिताजी इनके अधीन हैं। अतः आप इनसे किसी प्रकार का डाह न करें। अपने बड़प्पन का अभिमान छोड़कर पिताजी की प्रसन्नता के लिये इसकी सेवा करें। स्वयं जाकर इन्हें अपने हाथों से भोजन करावें।"

पुत्र के ऐसे बचन सुनकर परम पतिव्रता सन्ध्यावली बोली—"बेटा! मैं पतिव्रताओं के धर्म को जानती हूँ, उस स्त्री को धिक्कार है जो अपने पति के विरुद्ध आचरण करती है। यह तो ब्रह्माजी की स्त्री है यदि मेरे पति सूकरी कूकरी से भी प्रेम करें तो मैं दासी की भाँति उसकी भी सेवा करने को तैयार हूँ। मैं अभी जाती हूँ और मोहिनी को प्रसन्न करके उसे अपने हाथों भोजन कराती हूँ।"

इतना कह कर यह अपने पुत्र को साथ लिये हुए मोहिनी के निकट गई और कोप भवन मे पड़ी हुई उससे अत्यन्त प्रेम से बोली - "बहिन! तुम ऐसी दुखी क्यो हो रही हो। देखो, महाराज तुम्हें कितना स्नेह करते है। जिस पर महाराज का इतना प्रेम है, उसके अधीन ही यह सप्तद्वीपा वसुमती तथा समस्त धन धान्य है। जब महाराज ही तुम्हारे वश में हैं, तो हम सब तो उनके आश्रित हैं, अवस्था से अथवा पहिले विवाह होने से ही कोई रानी बड़ी नहो होती। बड़ी वही है जिसे पति सबसे अधिक प्यार करें। तुम मेरे स्वामी की प्राण प्रिया हो, अतः हम सब तुम्हारी सेविकायें है। आज से मैं दासी की भाँति तुम्हारी सेवा किया करूंगी। तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करूंगी। तुम महाराज के ऊपर प्रसन्न हो जाओ। मैं तुम्हें सिर से प्रणाम करती हूँ। तुम स्नान करो, मैं तुम्हें अपने हाथ से भोजन कराऊंगी।"

साथ ही मृतक के ऊपर का नवीन वस्त्र भी। यही सोचकर उन्हों ने अपना चाडालों का डड उठाया और उधर की ही ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्राचीन काल में सभी के वेप-भूपा चिन्ह पृथक पृथक होते थे, उसे ही देखकर सब जान लेते

भगवान् को प्रसादी खीर लाकर महाराज को दी और कहा—'आज शरदुत्सव का यह प्रसाद है प्रभो !"

शरदुत्सव का शब्द सुनते ही महाराज रुकमाङ्गद ने पूछा—"क्या कल से परम पुण्यप्रद कार्तिक मास का आरम्भ है ?"

पुजारी ने कहा—"हाँ प्रभो ! आज शरदुत्सव हो गया कल से समस्त कल्मषहारक कार्तिक मास का स्नान आरम्भ होगा।"

इतना कह कर पुजारी चला गया, राजा ने मोहिनी से कहा—"प्रिये ! कल से कार्तिक मास का आरम्भ है जिसका कार्तिक मास बिना व्रत उपवास के बीत जाता है, उसका जीवन वृथा है, यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मै कल से एक महीने का व्रत आरम्भ करूँ। इसमे प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व स्नान करना पड़ता है, तुलसी, आमला शालग्राम की पूजा करनी पड़ती है, उपवास, फलाहार, एक समय भोजन अथवा दुग्धहार जैसा भी नियम हो, उसे लेकर महीने भर तक भगवान् की आराधना करनी पड़ती है। मैं चाहता हूँ, यह महीना उपवास पूर्वक बिताऊँ, तुम भी मेरे साथ व्रत करो। मेरे इतने कार्तिक बिना व्रत के व्यतीत हो गये। मेरे सभी नियम व्रत टूट गये, एक एकादशी व्रत ही जैसे तैसे निभ रहा है।"

मोहिनि ने कहा—"महाराज ! आप इतने बड़े ज्ञानी और बुद्धिमान् होकर इन व्रत उपवास के चक्कर मे क्यों पड़ते हैं। प्राणनाथ ! भूखा रहना, उपवास करना यह यतियों का अथवा विधवाओं का धर्म है। जिसे अनुकूल पत्नी प्राप्त है, भगवान् की दी हुई सब सम्पति है वह व्रत उपवास क्यों करे। आप तो महीने भर की कहते है, मैं तो आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती है।"

मेरे राजर्षि पति न जाने कहां भटक रहे होंगे, तू मुझे बीच में ही छोड़ गया। हाय मेरा हृदय न जाने किन किन धातुओं के मिश्रण से बना है, जो इतनी भारी विपत्तियों के आने पर भी फटता नहीं, इसके टुकड़े--टुकड़े नहीं होते।"

सूतजी कहते हैं--"मुनियों! अब तो महाराज को कोई सन्देह रहा नहीं। वे धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़े। उनके चोट लगी, किन्तु इसका उन्हें कुछ पता नहीं। वे हा पुत्र हा पुत्र कह कर मुक्त कंठ से रुदन करने लगे।"

महारानी शैव्या रो रही थीं डर रही थी। वे पुत्र शोक से विह्वल बनी हुई थीं, उन्हें यह भी ध्यान नहीं था, यह मेरे पास कौन पुत्र, पुत्र चिल्ला रहा है। वे समझी ये भी कोई मेरे ही समान हतभागी होंगे, इनका भी पुत्र मर गया होगा। राजा बड़ी देर तक मूर्छित अवस्था मे पड़े रहे। कुछ काल में उन्हें चेतना हुई। उन्होंने दौड़ कर बच्चे को उठा लिया और कस-कर छाती से चिपटाते हुए कहने लगे--' मेरे लाल! मेरे वत्स रोहित। भैया, सब ने मुझे छोड़ दिया। तू भी मुझे छोड़ कर परलोक जा रहा है क्या? मुझे भी अपने साथ ले चल अब मैं तेरे बिना इस पृथिवी पर रह नहीं सकता।"

रानी ने जब महाराज की वाणी सुनीं तब तो उन्हें भी निश्चय हो गया, मेरे प्राणनाथ ही हैं। इतने देर से महाराज खड़े थे। रानी ने कई बार उन्हें देखा, किन्तु वे उन्हें पहिचान न सकीं। उन्होंने उनके मस्तक पर छत्र तना देखा था। काले--काले घुँघुराले बालों को फहराते मुखमंडल पर निहारा था। आज उनके मस्तक पर रूखी-रूखी भयंकर जटायें थीं, जो चिता के धूँए से या लपटों से सुनहली और धूमिल बन गई थीं। उनका

चल पर्वत पर आपने मेरे साथ विवाह किया था, तब आपने शपथ पूर्वक मुझे एक वर दिया था कि जो मै मांगूगी वह आप देंगे।" आज उस वर का समय आ गया है। आप सत्य प्रतिज्ञ हैं, कहिये उस वर को आज मुझे देंगे?"

राजा ने हंस कर कहा—"स्त्रियों का हृदय बड़ा संकुचित होता है। मैं बार-बार कह चुका हूँ, मेरा धन, राज्य, शरीर सर्वस्व तुम्हारा है। तुम एक वर का कहती हो, मैं तुम्हें सहस्र वर देने को सदा उद्यत हूँ।"

मोहिनी ने प्रणयकोप के स्वर में आँखें मटकाते हुए कहा—"नही, महाराज! मुझे आपके धन, राज्य से क्या काम। मुझे सहस्र वर नहीं चाहिये। मैं एक ही चाहती हूँ। ऐसा न हो कि फिर आप मना कर दें।"

अत्यन्त ममत्व के स्वर में प्रेम पूर्वक राजा बोले—"प्रिये! तुम ऐसा अविश्वास मेरे ऊपर किस कारण से कर रही हो। ऐसा कभी मुझे स्मरण नहीं कि तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध मैंने कोई कार्य किया हो। मैंने जीवन में कभी झूठ बोला है ऐसी मुझे स्मृति नहीं। मै सत्य प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ कि तुम जो मांगोगी वही दूंगा।"

मोहिनी ने प्रसन्नता के साथ कहा—"यदि ऐसा ही है, तो मैं चाहती हूँ कि आप एकादशी का व्रत न करें। एकादशी के दिन भोजन कर लें।"

राजा ने अत्यन्त ही दुःख के साथ कहा—"यह मेरे लिये असम्भव है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ, अपने प्राणों को दे सकता हूँ, किन्तु एकादशी व्रत नहीं छोड़ सकता।"

इस पर मोहिनी ने कहा—"तब जाइये, अपने वचनों को मिथ्या बनाकर अपयश कमाइये। आपको एकादशी प्यारी है,

नाथ को चांडाल वेष में देख कर मेरा हृदय फटता क्यों नहीं। इसके टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं होते।"

इतना कह कर महारानी दोनों हाथों से अपनी छाती को धुनने लगी, बालों को नोचने लगी और नखों से अपने अंगों को काटने लगी।

महाराज ने रानी की जब ऐसी विक्षिप्तावस्था देखी तो उन्होंने उन्हें पकड़ लिया। अब वे भूल गये कि मुझे रानी को छूना नहीं चाहिये। उन्होंने अपनी प्रियतमा शैव्या को हृदय से लगा लिया। रानी पुत्र शोक को भूल गई थीं। अब उन्हें रह रह कर पति के चांडाल होने की वेदना थी।

अर्ध रात्रि का समय था, सम्पूर्ण संसार सो रहा था। श्मशान भूमि की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। कुत्ते सो रहे थे, सियार इधर-उधर मांस के लिये घूम रहे थे। कुछ काल पहिले जो लोगे मृतक को जलाने आये थे वे भी चले गये थे। चिताओं का धुआँ भरा हुआ था, श्मशान भूमि में तीन ही थे। राजा रानी और मृतक कुमार।

महाराज ने कुमार को गोद में लिटा लिया, महारानी के सिर पर हाथ रख कर उन्होंने उनके अपने मैले वस्त्र से आंसू पोंछे और कहा—"प्रिये ! तुम अधीर मत होओ। हमने कोई पाप नहीं किया है, हमने जो भी कुछ किया है, धर्मरक्षा के ही निमित्त किया है ?"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ! आपको यह चांडालपना कैसे प्राप्त हुआ ?"

उनसे भी व्यवस्था दिखाई किन्तु पिताजी किसी भी प्रकार व्रत छोड़ने को तैयार नहीं हुए। फिर इस कार्तिक मास की परम पुण्यप्रदा प्रबोधिनी एकादशी को यों वे किसी भी प्रकार से नहीं छोड सकते। अतः एकादशी व्रत भंग को छोड़कर मेरी छोटी माता और जो भी माँगे, वही तुम उन्हें देकर प्रसन्न करो।

अपने पुत्र के ऐसे वचन सुनकर महारानी सन्ध्यावली मोहिनी के समीप गई और उसके पैरों में पड़ कर बोली—"बहिन! यद्यपि तुम मुझसे छोटी हो, फिर भी मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ. तुम मेरे पति पर प्रसन्न हो जाओ। देवि! तुम उनसे एकादशी को अन्न खाने के लिये आग्रह मत करो, इसके अतिरिक्त तुम जो भी माँगोगी वही मैं दूँगी। बहिन! स्त्रियों के लिये पति ही देवता है, पति ही परमेश्वर हैं, उनकी प्रसन्नता के लिये पत्नी को सब कुछ करना चाहिये।"

मोहिनी ने कहा—"महाराज ने मुझसे विवाह के समय प्रतिज्ञा की थी। आज उसे पुनः शपथ पूर्वक दुहराया। अब वे कह कर अपने वचनों से हटना चाहते है। यदि वे ऐसा करते हैं, करें। मैं अपनी हठ को नहीं छोड सकती।"

अत्यन्त ही विनीत भाव से सन्ध्यावली ने कहा—"बहिन! मैं कहती तो हूँ तुम एकादशी व्रत त्याग वाली बात को छोड कर और जो भी कहोगी वही कार्य महाराज करेंगे।"

मोहिनी तो क्रोध में भरी ही हुई थी, उसे तो ब्रह्माजी ने भेजा ही इसलिये था। अतः उसने सोचा—"राजा के एक ही पुत्र है, वह भी शूरवीर, विजयी विनयी और पिता का प्राणों से भी अधिक प्यारा है। संसार में सभी को पुत्र प्यारे होते हैं, किन्तु गुणी, आज्ञाकारी, विनयी और अनुकूल पुत्र तो प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। अतः इससे यही माँगू।" यह

समय अग्नि की साक्षी देकर मेरा हाथ पकड़ा था। उसी प्रकार चिता पर भी मेरा हाथ पकड़े ही हुये चढें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, कल्याणि! जब तुमने ऐसा ही निश्चय किया है, तो हम इस विश्वनाथ की पुरी से भी उसी प्रकार साथ चले जिस प्रकार अयोध्या पुरी से साथ चले थे। यह कह कर महाराज ने एक बड़ी सी चिता स्वयं बनाई। उसके ऊपर कुमार रोहित के मृतक शरीर को रखा।

रानी के सहित उन्होंने चिता की प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए गद्-गद् कण्ठ से कहने लगे—"हे अशरण शरण! प्रभो! मैंने जो भी कुछ किया है, धर्म की रक्षा के निमित्त किया है। हे चराचर के स्वामी विश्वम्भर! आपके अनन्त नाम हैं, धर्म ही आपका नाम है सत्य ही आपका स्वरूप है। आप आनन्द घन तथा चैतन्यस्वरूप है। आपको हृदय में धारण करके ही मैं इस शरीर का अन्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके महाराज ज्यों ही चिता पर चढ़ने को उद्यत हुए। त्योंही साक्षात् चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा वहाँ प्रकट हुए। उनके पीछे इन्द्र, वरुण, कुवेर, धर्म, साध्यगण, विश्वेदेवा, मरुद्गण, नाग, सिद्ध, गन्धर्व एकादशी दोनो अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य देवगण भी थे। आते ही देवताओ के राजा इन्द्र ने कहा—"राजन्! आप ऐसा साहस न करे, आपने अपने सत्यधर्म के प्रभाव से अक्षय लोकों को जीत लिया है। ये सम्पूर्ण ब्रह्माड के अधीश्वर लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा जी समस्त देवताओं के सहित इन्हें दर्शन देने आये है। इनके समीप ही ये महर्षि विश्वामित्र भी खड़े हैं। इन्होने क्रोधवश लोभवश तुम्हारा सर्वस्व अपहरण नहीं किया था आप जेसा सत्यवादी

अनुभव कभी नहीं कर सकते। फिर भी मै पुत्र की अपेक्षा धर्म को श्रेष्ठ मानती हूँ। पुत्र का वध करके यदि आप अपने धम का पालन कर सकें, परलोक को बना सके, तो पुत्र तो बहुत हुए है, बहुत हो जायँगे। पुत्र की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है, अतः आप पुत्र का वध करके धर्म की रक्षा कीजिये।"

राजा ने रोते-रोते कहा—"प्रिये! मैं पापी इन हाथों से इतने कोमलाङ्ग पुत्र के सिर को खड्ग से कैसे काट सकूँगा। मै आत्मघात कर लूँगा, किन्तु न तो पुत्र का वध करूँगा न एकादशी व्रत ही छोड़ूँगा।"

यह सुन कर हाथ जोड़े हुए पुत्र ने विनीत भाव से कहा—"पिताजी! आप मोह न करें। मरने से आपकी अपकीर्ति होगी, एकादशी व्रत छोड़ने से धर्म का नाश होगा, जीवन भर दंड दे देकर आप सबसे एकादशी व्रत कराते रहे, अब आप ही जब एकादशी को अन्न खा लेंगे, तो लोग क्या कहेंगे, सर्वत्र आपकी निंदा होगी जो यमराज आपके नाम से डरता है, जिसके नरक को आपने रिक्त करा दिया है, वह हँसेगा। शत्रु के व्यङ्ग पूर्वक हास से बढ़कर दुःखद कोई कार्य नही। अतः आप मेरा बध करके अपने यश को उज्वल कीजिये, धर्म की रक्षा कीजिये। नश्वर देह देकर शाश्वत धर्म मिलता हो, तो कौन बुद्धिमान् इस हाड़ मांस के बने शरीर का मोह करेगा ?"

सूतजी कहते है—"मुनियो! पुत्र के ऐसे विवेकपूर्ण वचन सुनकर तथा महारानी सन्ध्यावली के बार-बार आग्रह करने पर, महाराज अपने पुत्र का वध करने के लिये उद्यत हो गये।"

उस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। एक ओर तो फूल से भी सुकुमार कुमार खड़ा था। अभी उसके दाढ़ी मूँछे

पूर्वक स्वर्ग जायें। धर्म की अधीनता अधीनता नहीं। धर्म के लिये उठाया जाने वाला कष्ट कष्ट नहीं है। धर्म के लिये होने वाला अपमान अपमान नहीं है। जो मुझ धर्म की रक्षा करता है, उसकी मैं भी सदा रक्षा करता हूँ। आप सुख पूर्वक स्वर्गादि लोकों को जाकर वहाँ दिव्य सुखों को भोगें।"

इस पर इन्द्र बोले—"हाँ, महाराज ! चलिये अब तो आप जिनके अधीन थे, उन्होंने भी आपको आज्ञा दे दी।"

तब महाराज हरिश्चन्द्र बोले—"देवेन्द्र आपकी बड़ी कृपा है। मैं अकेले स्वर्ग नहीं चाहता। मैं स्वार्थी नहीं कि स्वय ही स्वर्गीय सुखों को भोगूँ। मैं तो प्रजा का सेवक हूँ। अयोध्या की मेरी समस्त प्रजा मेरे वियोग में तड़प रही है, मैं उसे दुःखी छोड़कर अकेला स्वर्ग नहीं जा सकता। आप सबको स्वर्ग ले चलें तो मैं चलूँ।"

यह सुन कर शचीपति देवेन्द्र हँस पड़े और बोले—"महाराज अब भी आपके हृदय में प्रजा का अनुराग ज्यों का त्यों बना है इसीसे विदित होता है आप सच्चे नरपति है—आपका कल्याण हो। आइये मेरे साथ विमान पर विराजिये, ये बाबा विश्वामित्र भी यहीं विराजमान् हैं। ये आपके स्वामी धर्म भी साथ ही है। आइये मुझे कृतार्थ कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! देवेन्द्र के इतना कहते ही महाराज का शरीर दिव्य हो गया, वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत दूसरे देवेन्द्र से प्रतीत होने लगे। महारानी शैब्या भी पहिली जैसी ही रूपवती हो गई। वे महाराज की बगल में खड़ी हुई, शची के समान दिखाई देती थीं। कुमार भी हँसते हुए महारानी

एकादशी में उसे रहने को स्थान दिया। फिर पुरोहित ने उसके पापों के प्रक्षालनार्थ तीर्थ यात्रा का विधान बताया। तीर्थ यात्रा के प्रभाव से मोहिनी को भी उत्तम लोकों की प्राप्ति हो गई। दशमीविद्धा एकादशी में मोहिनी का अवस्थान होने से दशमीविद्धा एकादशी का व्रत निषेध है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसीलिये वैष्णव लोग द्वादशी व्रत करते हैं। अष्टमी, एकादशी, षष्ठी, तृतीया और चतुर्दशी के जितने व्रत हैं वे पूर्व तिथि से विद्ध होने पर नहीं किये जाते। परवर्तिनी से युक्त होने पर ही इनमें उपवास का विधान है। स्मार्त और वैष्णव में यही अन्तर है। स्मार्त वैष्णव द्वादशी में पारण का आग्रह करते है। वे द्वादशी के समाप्त होने के पूर्व ही पारण कर लेना प्रशस्त समझते है और वैष्णव व्रत के दिवस द्वादशी आ जाय इसका आग्रह करते हैं। फिर पारण चाहे त्रयोदशी में हो। प्रथम दिवस दिन में और रात्रि में भी पूरा ६० दंड एकादशी रहे और दूसरे दिन केवल एक ही दंड एकादशी हो तो वैष्णव प्रथम एकादशी को छोड़कर दूसरी द्वादशी युक्त एकादशी का ही उपवास करते हैं।

महाराज अम्बरीष का आग्रह द्वदशी में पारण का ही था। इसलिये कार्तिक मास में ३ दिन का उपवास करके अन्त में द्वादशी के दिन यमुना जी में विधिवत् स्नान किया। फिर महाभिषेक की विधि से सब प्रकार के बहुमूल्य द्रव्यों के नाना उपहारों से उदारता पूर्वक भगवान् की अत्यन्त धूमधाम से पूजा की। वस्त्र, आभूषण, धूप, दीप तथा नाना प्रकार के ५६ व्यंजनों को भगवान् को अर्पण किया। फिर वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर अत्यन्त श्रद्धा भक्ति सहित उन्हें षड्रसों वाले भगवान् के प्रसादी व्यंजनों से जिनके ऊपर हरी-हरी तुलसी की मंजरी

वाहुक पुत्र महाराज सगर

(६३८)

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्माद्विनिर्मिता ।
चम्पापुरीं सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तयापि बाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १,२ श्लोक)

छप्पय

तन धन सरवसु तज्यो धर्म हरिचन्द न छोरयो ।
परी विपति पै विपति नहीं सत तैं मुख मोरयो ॥
गये नृपति बैकुण्ठ भये रोहित नृप श्रीयुत ।
रोहित के सुत हरित हरित के चम्प भये सुत ॥
चम्प नृपति चम्पापुरी रचीं वीरवर तिन तनय ।
नृप सुदेव है विदित जग, भये तासु सुत नृप विजय ॥

भगवान् जिसकी रक्षा करना चाहते हैं जिसका जीवन चाहते हैं, वह चाहे धधकती अग्नि में कूद पड़े, पर्वत से गिर

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! हरिश्चन्द्र सुत रोहित हुए रोहित के हरित उसके चम्प हुए जिन्हों ने चम्पापुरी को बसाया । चम्प के सुत सुदेव हुए उनके आत्मज विजय हुए । विजय के भरुक और भरुक के वृक हुए । महाराज वृक के ही पुत्र बाहुक हुए जिनकी पृथिवी को शत्रुओं ने छीन लिया इसलिये वे अपने पत्नियों सहित वन में चले गये ।

अम्बरीष के अतिथि दुर्वासा

[६१७]

लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

ताही व्रत को अम्बरीष उद्यापन कीन्हों।
धेनु रत्न धन धान दान विप्रनिकूँ दीन्हों॥
विधिवत विप्र जिमाइ पाइ पारण की अनुमति।
जेंवन बैठे जबहिं तबहिं आनन्द भयो अति॥
दुर्वासा मुनिवर तहाँ, आये नृप ठाड़े भये।
दयो निमन्त्रण भोजहित, हाँ, कहि सन्ध्या हित गये॥

प्राचीन सदाचार यह था कि अपने घर पर भोजन के समय कोई भी अतिथि आ जाय, तो गृहस्वामी उसको भगवद् बुद्धि से पूजा करता था। अतिथि किसी वर्ण अथवा किसी

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन! जब ब्राह्मणों को इच्छित पदार्थ देकर और उनकी अनुमति लेकर महाराज अम्बरीष ज्योंही व्रत का पारण करने को उद्यत हुए, त्योंही भगवान् दुर्वासा उनके आकर अतिथि हुए।

चलकर एक घोर अरण्य के दूसरे किले में निकलती थी। मह-
राज रात्रि भर चलकर उस किले में पहुँचे। वहाँ से समीप ही
महर्षि और्व का सुन्दर आश्रम था। रानियों सहित महाराज
मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने पत्नियों सहित महाराज का
स्वागत किया और सभी को ठहरने के लिये स्थान दिया।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ? शत्रुओं ने मेरी समस्त पृथिवी
छीन ली है,अब मैं राज्य हीन होकर आपकी शरण में आया हूँ।
मुनि ने कहा—राजन् पृथिवी कभी किसी की हुई भी है या
आपकी ही होगी ? इस पृथिवी पर कितने कितने बड़े प्रतापी
राजा हुए। मेरी मेरी कह कर न जाने वे कहाँ चले गये महाराज!
आप जैसे साधु स्वभाव के राजा इस पृथिवी की रक्षा नही कर
सकते। पृथिवी का पालन तो समरप्रिय शूरवीर भूप ही कर
सकते है। आप यहाँ अरण्य में रहकर भगवान् का आराधन
कीजिये, योग साधन कीजिये। आपके वंश में कोई ऐसा प्रतापी
राजा होगा जो अपने पूर्वजों के गये हुए राज्य को लौटा
लेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपकी शरण में
आ गया हूँ, आप जो चाहें सो करें। जब तक मनुष्य को धनमद-
राज्यमद या ऐश्वर्य का मद रहता है। तब तक वह अपने
सामने किसी को कुछ नही समझता। जब उसका मद चूर हो
जाता है, तब वह सब ओर से हताश होकर साधु शरण में
जाता है, साधु के समीप सभी को आश्रय मिलता है, सभी को
त्राण मिलता है। जिनके कोई बन्धु नही उनके साधु बन्धु हैं,
जिनका कोई सहारा नही उनके साधु ही सहारे है, जिनका
कोई रक्षक नहीं उनके साधु ही रक्षक हैं। साधु ही ईश्वर हैं
साधु ही सबके सच्चे हितैषी है।"

नियम आज सफल हुआ। इस पुण्य पर्व पर पधार कर मुझ पतित को प्रभु ने परम पावन बना दिया। भगवन् आज मैंने द्वादशी व्रत

का उद्यापन किया है। आप बड़े सुन्दर अवसर पर पधारे। प्रसाद तैयार है। पधारें और प्रसाद पाकर मुझे कृतार्थ करें।"

दुर्वासा मुनि तो आये ही इसीलिये थे। बोले—"राजन्! प्रसाद तो पाना ही है अब इतने बड़े द्वार को छोड़ कर भूखे ही

उन्हें खुल कर द्वेष करने का अवसर मिल गया। इस बातसे उन्हें और भी दुःख हुआ, कि यह गर्भवती है, यदि इसके पुत्र हो गया, तो यह राजमाता हो जायगी, इसका बच्चा बड़ा होकर राजा हो गया, तो हम सब को दाइयो की भाँति रहना होगा।" यही सब सोच कर सब ने सम्मति की कि हत्या की जड़ यह गर्भस्थ बालक ही है, यदि किसी प्रकार रानी को विष दे दिया जाय, तो गर्भस्थ बच्चा भी मर जायगा और हमारी सौत यह रानी भी मर जायगी। यह सोचकर उन्होंने बड़ी युक्ति से किसी मोदक आदि मे रानी को विष दे दिया।

रानी तो भोली भाली थी, उसे अपने क्रूर कर्म करने वाली सौतों के षड्यन्त्र का कुछ भी पता नही था।

जब वह नित्य नियमानुसार भगवान् और्व को प्रणाम करने गई, तो मुनि ने आशिर्वाद दिया, पुत्रवती हो, सम्राट को जनने वाली हो।" फिर मुनि ने ध्यान से जो देखा तो उन्हे विष देने की बात विदित हो गई। इसलिये उन्होंने कहा—"कोई बात नहीं जो वस्तु पेट में है वह बिना जीर्ण हुए ज्यों की त्यों बनी रहेगी।"

शुकदेव जी कहते है—"राजन्! कुछ कालके पश्चात् परलोक वासी महाराज वाहुक की पत्नी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र के साथ ही वह गर (विष) भी उत्पन्न हुआ जिसे रानी की सौतों ने उसे भोजन के साथ दे दिया था। पुत्र गर के साथ उत्पन्न हुआ इसलिये महामुनि और्व ने उसका नाम सगर रखा। मुनि ने बालक के सभी क्षत्रियोचित जातिकर्ण नाम कर्ण आदि संस्कार कराये। शनैःशनैः वह बालक मुनि आश्रम

ब्राह्मणों ने इस विषय पर विचार किया और सभी ने एक स्वर से यह निर्णय दिया कि महाराज ! आप केवल जल पीकर व्रत का पारण कर लो, जब दुर्वासा मुनि आ जायँ तो उन्हें भोजन कराके प्रसाद ग्रहण कर लें।

राजा ने कहा—"ब्राह्मणो ! यदि जल आहार है और उससे पारण हो सकता है, तब धर्म लोप तो हो ही गया और यदि जल आहार नहीं है, तब फिर जल पीकर पारण कैसे हो सकता है।"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन् ! केवल जल पी लेना भोजन करने और न करने दोनों के ही समान हैं। वेद की एक श्रुति है। उसका यही अभिप्राय है जो केवल जल खा-पी लेता है वह न तो अशन ही कहा जा सकता है और न अनशन ही। इस दृष्टि से पारण तो हो ही जायगा। दुर्वासा मुनि कुछ पूछेंगे, तो हम सप्रमाण इस श्रुति को उनके सम्मुख उपस्थित कर देंगे।"

राजा ने ब्राह्मणों की बात मान ली और भगवान् का चरणामृत लेकर व्रत का पारण कर लिया। राजा ज्योंही प्रभु पादोदक पान करके उठ ही रहे थे, त्योंही लाल-लाल आँखें किये जटा बखेरे भृकुटी चढ़ाये तुनकते फुनकते दुर्वासा मुनि आ ही तो गये। अपने ध्यान से उन्होंने ये सब बातें पहिले से ही जान ली थी, वे आये ही इसीलिये थे, अतः वे दाँत पीसते हुए विकट मुख बनाये राजा के समीप उपस्थित हुए। राजा तो उनके ऐसे भयंकर रूप को देखकर डर गये, वे हाथ जोड़कर विनीत भाव से मुनि के सम्मुख खड़े हो गये।

अत्यन्त ही क्रोध के स्वर में मुनि कहने लगे—'क्यों वे राजा ! तू अपने को बड़ा भारी भगवद्भक्त मानता है ? तुझे इस बात

इसलिये महाराज सगर ने एक मर्यादा बाँधदी । ताल,जघ यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोग वर्णाश्रम धर्म में न रह सकेंगे । यद्यपि पहिले ये लोग क्षत्रिय ही थे, किन्तु अत्यन्त धर्म विरुद्ध आचरण करने से उन्हें समाज से वहिष्कृत कर दिया । महाराज ने उनको आज्ञा दी कि तुम एक विशेष चिन्ह रखा करो जिससे लोग समझ जायें कि तुम समाज बहिष्कृत हो । किन्हीं को तो कह दिया, तुम सम्पूर्ण सिर को मुड़ाया करो । किन्ही से कहा—"सिर तो मुड़ा लिया करो, किन्तु दाढी मूंछ रखा करो । शिखासूत्र मत धारण करो । किसी से कह दिया तुम वालों को कभी बाँधा मत करो, सदा खुले बाल रखा करो, आधे रखा करो । किन्ही से कहा तुम मुक्त कण्ठ होकर एक कपड़ा लपेटे रहा करो । किसी से कहा—तुम केवल एक कौपीन ही पहिना करो ।" इस प्रकार सब के पृथक् पृथक् चिह्न बना दिये । तभी से ये समाज मे वर्णाश्रम धर्मविहीन पंचम वर्ण के लोग बढ़ गये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार महाराज वाहुक के पुत्र परम प्रतापी महाराज सगर हुए । जिन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके अपने वंश को संसार में स्थापित किया । इन्हीं पुत्रों ने पृथिवी को खना था, जिससे समुद्र का नाम सागर पड़ गया ।"

इस पर राजा परीक्षत ने पूछा—"प्रभो ! सगर पुत्रों ने पृथिवी को क्यों खना ? और किस कारण क्षार समुद्र का नाम सागर पड़ा, कृपा करके इस कथा को मुझे सुनाइये ।"

यह सुनकर शौनक जी पूछा—"सूतजी! उन वेदज्ञ ब्राह्मणों ने दुर्वासा जी को समझाया क्यों नहीं। आकर शास्त्रों का प्रमाण दिखाते वेद की संहिता उनके सम्मुख रखते। और भी स्मृति पुराणों के उद्धरण दे देकर राजा के कार्य का औचित्य सिद्ध करते। ब्राह्मण चुप क्यों रहे।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—'अजी, महाराज! उस समय ब्राह्मणों को अपने प्राण बचाने की पड़ी थी, या प्रमाण खोजने की। दुर्वासा जी के सम्मुख बोलने का साहस किसका था। कोई कुछ बोलता, उसे उसी समय शाप-देकर भस्म कर देते। कोई पूछने पाछने वाला हो, तो उसे प्रमाण भी दिया जाय। जो आते ही दै दनादन मार ही आरम्भ कर दे, उसे प्रमाण कौन दिखावे? इस विषय मे एक बड़ा मनोरंजक दृष्टान्त है, उसे सुनिये।"

एक सियार था। सियार बड़ा मोटा ताजा, बड़ा बुद्धिमान पढ़ा लिखा विद्वान था। जब किसान घर को रोटी खाने चले जाते तब वह अपनी सियारनी को संग लिये हुए खेत में चला जाता और भर पेट भोजन करके किसानों के आने के पूर्व ही भाग जाता। उसकी सियारनी बार-बार कहती—"देखिये-पतिदेव! ऐसा व्यवहार उचित नहीं। पीछे किसी के खेत को खाना न्याय संगत नहीं।"

सियार कह देता—"भूखा पुरुष यदि भर पेट भोजन करले और बांध कर कुछ न ले जाय, तो शास्त्र में उसका कोई दोष नहीं। प्राणों की रक्षा के लिये कुछ अनुचित भी किया जाय, तो पाप नहीं। हम बांधकर तो लाते नहीं, पेट में ही खाते हैं।"

सियारिनी कहती—"प्राणनाथ! चोरी तो चोरी ही है।

महाराज सगर का अश्वमेध यज्ञ

(६३६)

औवोंपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥

(श्री भा० ६ स्क० ८ अ० ८ श्लो)

छप्पय

द्वै रानी तिन हतीं एकके सुत असमञ्जस ।
दूसरि साठिसहस्र जने सुत मानो नीरस ॥
अश्वमेध नृप सगर धूमते यज्ञ रचायो ।
भय वश सुरपति आइ यज्ञको अश्व चुरायो ॥
कपिलाश्रम महँ इन्द्रने, मख हय बाँध्यो कपट करि ।
साठिसहस सुत भूमि खनि, पहुँचे नाना रूप धरि ॥

सुनते हैं, सूकरी वर्ष में तीन चार बार प्रसव करती और एक साथ उसके कई बच्चे होते हैं । वे बुरी वस्तुएं खाकर जीवन बिताते हैं । कोई उन्हें छूता नहीं सब उनसे घृणा करते

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज सगरने अपने गुरु श्रौर्व मुनि की बतायी हुई विधि से अश्वमेध यज्ञ द्वारा सर्वात्मस्वरूप ईश्वर का भजन किया । उनके छोड़े हुए अश्वमेध के घोड़े को पुरन्दर इन्द्र हर ले गये ।"

देने। उन्होंने आते ही पूछना न बताना मारने के लिये कृत्या हो उत्पन्न कर डाली, तो ब्राह्मण डर कर ही भाग गये, वे प्रमाण फ्रमाण सब भूल भाल गये।"

शौनक जी ने पूछा—"हाँ तो सूतजी फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"अजी महाराज! फिर क्या हुआ? फिर तो बड़ा झगड़ा टंटा हुआ। राजा भी कुछ कम नहीं थे। वे बन्दर घुड़कियों में आने वाले जीव तो थे नहीं। वे डटे रहे अपने स्थान पर। कृत्या राजा को मारने के लिये उनके ऊपर दौड़ी, किन्तु जिनकी रक्षा भगवान् का चक्र सुदर्शन सदा करता रहता है, उसको कौन मार सकता है। उसका अनिष्ट करने का साहस किसका है। राजा जब न विचलित हुए न अपने स्थान से हटे तब तो भगवान् का दिव्यास्त्र चक्र सुदर्शन वहीं से उस कृत्या का अंत करने उसके ऊपर झपटा। जैसे लवा पक्षी के ऊपर बाज झपटता है, वैसे अपने ऊपर चक्रसुदर्शन को आते देख कर कृत्या तो हक्की-बक्की सी रह गई, उसकी सभी सिटिल्ली भूल गई। सुदर्शन चक्र ने आव गिना न ताव। मारा जो एक झपट्टा तो कृत्या को इस प्रकार जला दिया जैसे पतंग को अग्नि जला देती है। कृत्या को जलाकर सुदर्शन चक्र दुर्वासा की ओर झपटा। अब तो लेने के देने पड़ गये। चौबे जी गये थे छब्बेजी होने यहाँ दुब्बे जी बनने में भी लाले पड़ गये। कहीं दंड कहीं कमंडल। दुर्वासा मुट्ठी बाँधकर भागे। जटायें वायु में फर्र-फर्र उड़ रही थीं। बार-बार दृष्टि को घुमाते सुदर्शन को निहारते वे पूरे वेग से भगे जा रहे थे, किन्तु सुदर्शन कब छोड़ने वाले थे, वे उनके पीछे लगे चले गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! फिर क्या हुआ।

में प्रणाम किया और सन्तान की कामना से उनके पैर पकड़े।

महामुनि रानियों के मनोगत भावों को अपनी ज्ञान दृष्टि से समझ गये और बोले—"तुम दोनों में से जो चाहे वह एक तो वंश धर एक पुत्र माँगले और दूसरी साठ सहस्र पुत्र माँगले। बड़ी रानी केशिनी ने कहा—"प्रभो! मुझे तो एक ही वशधर पुत्र दे दें।'

दूसरी सुमतिने कहा—"महाराज! मुझे आप साठ सहस्र पुत्र दें, जिससे मैं बहुत से पुत्र की जननी कहलाऊँ।"

मुनिने कहा— 'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।' यह कह कर मुनि राजा से पूजित और सत्कृत होकर अपने आश्रम पर चले गये। कालान्तर में बड़ी रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सिड़ी पागलों का सा व्यवहार करता था। बातें बोलता था, तो अंडबंड। कुछ पूछो, कुछ उत्तर दे। इसलिये सब ने उसका नाम असमञ्जस रख दिया।

दूसरी रानी सुमति के गर्भ से एक बड़ी भारी तूमी सी उत्पन्न हुई। मुनिकी आज्ञा से साठ हजार घृतके कलश मँगाये गये तब उस तूमीमे से धायने एक एक बीज निकाल निकालकर एक एक घड़ेमे रखा। कुछ काल में उन घड़ों में पुरुषों की भाँति बच्चे बन गये और वे हृष्ट पुष्ट होकर निकले। सगर के वे साठ सहस्र पुत्र-बड़े हो बली थे। वे बड़े लम्ब तड़ंगे और बृहद् डील डौल वाले थे। वे समुद्र के ऊपर विना रोकटोक के चल सकते थे। आकाश में उड़ सकते थे। पर्वतों को चूर्णकर सकते थे। उन्होने अपने बाहुबल से सभी को भयभीत बना रखा था। समुद्र पर्वत, नदी, नद सभी उनके नाम से थरथर कांपते

मुनि दुर्वासा की दुर्दशा

(६१८)

दिशो नभः क्ष्मां विवरान् समुद्राँ—
लोकान् सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ४ अ० ५१ श्लो०)

छप्पय

कृत्या तत्क्षण मारि सुदर्शन चक्र गिराई।
निरपराध भूपाल भक्त की भीति भगाई॥
कृत्या कूँ करि भस्म चक्र मुनिवर के आगे।
झपटयो डरि कें तुरत तहाँ तें मुनिवर भागे॥
पृथिवी, जल, आकाश महँ, सबहिं लोक दौरे गये।
दई शरन काहू नहीं, दुर्वासा व्याकुल भये॥

अनेक दैत्यों ने भगवान् का अपराध किया है उन्हें भ

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि दुर्वासा दसों दिशाओं में, आकाश में, पृथ्वी और पृथ्वी के अतलादि विवरों में, समुद्र में लोकपालों के सहित सम्पूर्ण लोकों में, तथा स्वर्ग में भी गये, किन्तु वे जहाँ-जहाँ भी गये, वहीं उन्होंने दुष्प्रसह सुदर्शन चक्र को अपने पीछे लगा हुआ देखा।"

में फेंक देता। वे डूबने लगते, तब वह ताली बजा बजाकर हँसता रहता। इस पर प्रजा के लोग मिलकर महाराज के समीप गये और बोले—"राजन् ! या तो आप अपने पुत्र को ही रखिये या हमें ही। महाराज ! ऐसा राजकुमार तो हमने कोई देखा नहीं। यह अपनी प्रजा के बच्चों को वधिकों की भाँति जल में डुब देता है, ऐसा कुमार यदि राजा होगा, तो प्रजा की क्या रक्षा करेगा ?"

प्रजा के लोगों के ऐसे वचन सुनकर राजा को अत्यधिक दुःख हुआ। उन्हें असमञ्जस पर बड़ा क्रोध आया और उसे बुलाकर डाँटते हुए बोले—"तू बड़ा दुष्ट है रे ? मेरी प्रजा के बालकों की हत्या करता है। तू अभी मेरे राज्य से निकलजा। फिर कभी भी मुझे मुँह न दिखाना।"

कुमार असमञ्जस तो यह चाहते ही थे, अत: वे मन ही मन अत्यंत प्रसन्न होकर अयोध्यापुरी को छोड़कर चले गये। जाते समय उन्होंने अपने योग का अद्भुत चमत्कार दिखाया। जितने लड़को को उन्होंने सरयू जी के जल में फेंककर डुबा दिया था, उन सबको पुनः अपने योगबल से निकाल कर जिला दिया। जब वे सब बालक हँसते हुए अपने अपने घर पहुँचे, तब तो सभी लोग परम विस्मित हुए। वे सब मिलकर महाराज के समीप पहुँचे और बोले—"महाराज, हमसे बड़ी भूल हुई। कुमार तो कोई बड़े भारी पहुँचे हुए सिद्ध थे। देखिये, जितने हमारे लड़के डुबाये थे, वे सब तो ज्यों के त्यों जीवित होकर हमारे घरों में आगये।"

यह सुनकर राजा को भी बड़ा दुःख हुआ। किन्तु अब

किया होता तो मै कुछ करता भी तुमने भगवद् भक्त अम्बरीष का अपराध किया है, इसलिये मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है, तुम मेरे भी पिता अपने पितामह—"भगवान् ब्रह्माजी के पास जाओ सम्भव है, वे कुछ उपाय बता सकें।"

यह सुनकर आश्रम के पीछे से दुर्वासा जी योगवन से भागे। उन्होंने पीछे फिर कर देखा कि जिस प्रकार वन में दावाग्नि लगने पर उसके भय से सर्प भागता है और उसके पीछे जैसे अग्नि दौड़ी चली जाती है, वैसे ही मेरे पीछे जलता हुआ सुदर्शन आ रहा है यह देख कर वे पूरा बल लगाकर भागे। अन्य सब लोगों में, उन्हें किसी का सहारा नहीं था, जहाँ भी जाते वे ही अपनी विवशता दिखाते, सुदर्शन उन्हें छोड़ता नहीं था, उसका दुःसह तेज और दुर्धर्ष था। क्या करते, किसी को भी अपना रक्षक न देखकर वे भागते-भागते ब्रह्मलोक में पहुँचे।

ब्रह्माजी ने इन्हें दूर से ही भयभीत और पीड़ित देखकर पूछा—"अरे अत्रिनंदन ! तुम्हारा यह क्या हाल है?" दुर्वासा जी ने यह बात जाने सुनी या सुनी, वे आकर एक साथ ब्रह्माजी के आगे लाठी की भाँति पृथ्वी पर लेट गये और बड़े आर्त स्वर से कहने लगे—"हे प्रजापतियों के भी पति ! हे पितामह ! हे आत्मयोने ! हे विधाता ! आप मेरी रक्षा कीजिये; रक्षा कीजिये।"

ब्रह्माजी ने कहा—"क्यों क्या बात है?" दीनता के स्वर में भयभीत हुए दुर्वासा बोले—"प्रभो ! इस प्रकार मैं महाराज अम्बरीष के यहाँ गया, मुझे बिना भोजन कराये उन्होंने पारण कर लिया। तब मैंने क्रोध में भर कर, कृत्या को उत्पन्न किया। तभी तक न जाने कहाँ से भगवान् का सुदर्शन चक्र टूट पड़ा

जब राज पुत्रों को कहीं भी अश्व न मिला तो वे लौटकर अपने पिता के पास गये और हाथ जोड़ कर बोले—"पिताजी ! यज्ञीम अश्व को तो किसी ने चुरा लिया।"

महाराज सगर ने डांट कर कहा—"तुम लोग कहाँ चले गये थे ?"

सागर पुत्रों ने कहा—"पिताजी ! हम तो सब साथ ही थे, फिर भी पता नहीं कि कैसे किसने अश्व को चुरा लिया।"

राजा बोले—"तुम लोग बड़े मूर्ख हो, मैंने तुमको अश्व की रक्षा के लिये भेजा था। तुम साठ हजार होकर भी एक अश्व की रक्षा न कर सके, जाओ स्वर्ग में, पातल में, पृथिवी में तथा अन्य भी जिस लोक में घोड़ा हो उसे ढूंढ़कर लाओगे नहीं फिर अच्छी बात नही होगी। अश्व बिना यज्ञ समाप्त कैसे हो सकता है ?"

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर वे सबके सब क्रोध करके चले, पहिले तो उन्होंने समस्त पृथिवी को खोजा। जब पृथिवी पर घोड़ा नहीं मिला, तो उन्होने पृथिवी को खोदना आरम्भ कर दिया। महाराज सगर से पहिले यह भारत वर्ष अन्य आठों वर्षों से मिला हुआ था। इलावृत वर्ष बीच में था और जैसे कमल की कर्णिका के चारो ओर पंखुड़ियाँ होती हैं, वैसे ही शेष आठों वर्ष उसके चारों ओर थे। तब जाने वाले पुरुष भारत से ही इलावृत हरिवर्ष आदि वर्षों में जा सकते थे। इन सगर के पुत्रों ने यज्ञीय अश्व के अन्वेषण के निमित्त भारतवर्ष के चारों ओर भूमि को खोद डाला जिससे इस वर्ष का इलावृत आदि सभी वर्षों के सम्बन्ध विच्छेद होगया। खोदने से इस भारतवर्ष

सबको समेटकर उदर में रखकर वे शेष की सुन्दर शैया पर सुख से सो जायँगे। उन काल स्वरूप श्रीहरि के भ्रूभङ्ग मात्र से यह सम्पूर्ण विश्व तथा सनातन कहलाने वाला मेरा यह ब्रह्म लोक भी उन्हीं में लीन हो जायगा। ऐसे उन सर्वसमर्थ सर्वेश्वर के सनातन सुदर्शन चक्र को मैं हटाने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ, वे भक्तापराध से कुपित हैं, मेरा उनके सम्मुख जाने का भी साहस नहीं।

दुर्वासा जी ने कहा—"प्रभो! आप तो सर्वसमर्थ हैं सभी देवता, लोकपाल, श्रद्धासहित आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करते हैं। आप निरन्तर लोकहित में ही लगे रहते हैं। मेरा भी कल्याण कीजिये, आप सभी को इच्छित वर देते हैं, मुझे भी अभय प्रदान कीजिये।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! जो तुम कह रहे हो, वह सब सत्य है, किन्तु मैं भगवद्भक्त से द्रोह करने वाले की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। मेरी आज्ञा का कौन पालन करता है। हम स्वयं ही दक्ष तथा भृगु आदि प्रजापतियों और देवेश्वर गण लोकपाल तथा अन्य प्रजानाथों के सहित उन्हीं श्रीहरि की आज्ञा से अपने-अपने पदों पर कार्य करते रहते हैं। इसलिये भैया तुम और किसी समर्थ सुर के समीप जाओ। मैं तो तुम्हारी रक्षा करने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं।"

प्राणिमामात्र के अधीश्वर लोक पितामह ब्रह्माजी के मुख से ऐसी बातें सुनकर दुर्वासाजी को बड़ी निराशा हुई। अब वे करते क्या ब्रह्माजी ने तो स्पष्ट उत्तर दे दिया। दो टूक बात कह दी, कुछ लगाव लपेट या आशा वाली बात न रखी, तब दुर्वासा जी ने सोचा—"सर्व समर्थ तो श्री शिव हैं। हलाहल विष को भी वे हँसते-हँसते पान कर गये। महापराक्रमी कामदेव को भी उन्होंने

सगर के साठ सहस्र सुतों का विनाश

(६४०)

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता ।
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते ।
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ८ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

कपिलाश्रम पै अश्व निरखि नृपसुत हरषाये ।
कोलाहल अति करयो कपिल मुनि चोर बताये ॥
इन्द्र रच्यो षडयन्त्र बुद्धि नृप सुतनि बिगारी ।
मुनि मारन हित चले देहिं गिनि गिनि कें गारी॥
कोलाहल सुनि सहजही नेत्र कपिल के खुलि गये ।
दृष्टि परत निज पाप तें, सगरपुत्र सब मरि गये ॥

एक कहानी है, कोई बुद्धिमान् दुर्बल पुरुष लघुशंका कर रहे थे। उसी समय एक हृष्ट पुष्ट दुष्ट पुरुष आया। उसे एक

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो कहते हैं कि सगरपुत्र कपिल मुनि के कोप से नष्ट हो गये, यह बात उचित नहीं, क्योंकि जो जगत को पावन बनाने वाले हैं, ऐसे सत्यमूर्ति भगवान् कपिल मे, भला तमोगुण की संभावना कैसे हो सकती है ? क्या कभी पृथिवी रज का आकाश के साथ सबन्ध सम्भव है ?

में ही रहकर सब कुछ कर सकते हैं। मैं सनत् कुमार, नारद ब्रह्माजी, कपिलदेव, अपान्तरतम, देवल, धर्म, आसुरि तथा मरीच आदि जितने सिद्धेश्वर कहलाते हैं, सबकी सिद्धियों की सीमा है। हम उन महा मायेश महेश की मोहिनी माया से आवृत होने के कारण उनका यथार्थ तत्त्व तक नहीं जानते, फिर उनके नित्य पार्षद, दिव्यास्त्र सुदर्शन चक्र को शान्त करने की बात तो पृथक् रही। यह पूजनीय सनातन अस्त्र हमारे लिये सर्वथा असह्य है। हम इससे तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते। इस महत्तम अस्त्र को हम सिर से प्रणाम करते हैं।"

दुःख और विवशता के स्वर में दुर्वासा मुनि ने कहा—"प्रभो! जब आप सर्व समर्थ ईश्वर भी ऐसी बातें कहते हैं, तो अब हम कहाँ जाय, किसकी शरण लें। क्या अब जगत में कोई अशरण शरण है ही नहीं?"

शिव जी ने कहा—"है क्यों नहीं? जिसकी गाँठ उसी से खुलती है। यद्यपि हम तुम्हें शरण नहीं दे सकते, तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते फिर भी हम तुम्हें एक अमोघ उपाय बताते हैं। तुम इन भगवान् सुदर्शन चक्र के स्वामी सर्वेश्वर वैकुन्ठ नाथ श्रीहरि की शरण में जाओ। वे तुम्हें अवश्य ही अभय प्रदान करेंगे।"

दुर्वासा जी ने भयभीत होकर कहा—"अजी महाराज! आप तीनों ही देव एक से हो, एक स्वर में बोलते हो, यदि उन्होंने भी ऐसी बातें कह दी तो?"

शिवजी ने कहा—"अरे, भाई! वे ऐसी बातें कैसे कह सकते हैं, तुम भगवान् के ऊपर विश्वास करो। उनकी शरण में जाने से तुम्हारा कल्याण ही होगा।"

दुर्वासा जी ने कहा—"अजी महाराज! मेरा तो विश्वास

पड़ते ही सगर के साठ सहस्त्र पुत्र सब के सब जल कर भस्म
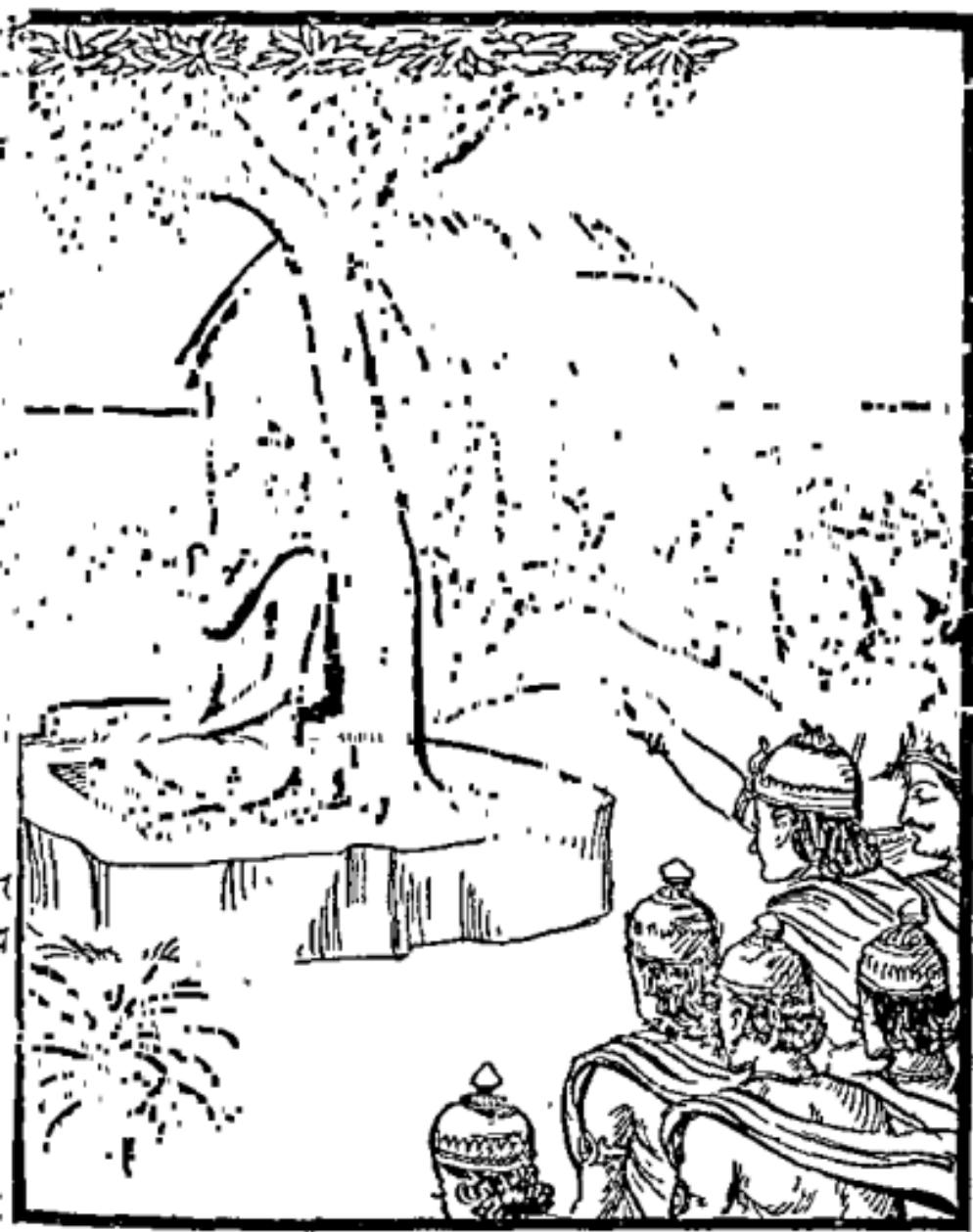
हो गये।"

दुर्वासाजी का हरि शरण में जाना

[६१९]

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० ६० श्लोक)

छप्पय

हर आयसु सिर धारि गये हरिपुर दुर्वासा।
शरनागत-प्रतिपाल करहिँ मुनि मन बड़ आसा॥
त्राहि त्राहि कहि पैर परै प्रभु हौं अघ कीन्हौं।
महिमा जाने बिना शाप वैष्णवकूँ दीन्हौं॥
भक्ताधीन सदा रहौं, विश्वम्भर बोले गरजि।
और बात हौं सब सहौं, निज जनको अपमान तजि॥

लोक में यह देखा गया है कि मनुष्य अपने अपमान को तो चाहे सह ले, किन्तु अपने सगे सम्बन्धी और आश्रित के अपमान को नहीं सह सकता। हमें चाहे कोई मरने की, दुखी होने की, बुद्धिहीन होने की गाली दे, तो उसे मन मसोसकर एक बार सह भी लेते हैं, किन्तु जहाँ वह बहिन बेटी की गाली देने लगा

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् तदनन्तर निराश होकर दुर्वासाजी भगवान् श्रीहरि के उस वैकुण्ठ नामक लोक को गये जहाँ श्रीनिवास भगवान् लक्ष्मीजी के सहित नित्य निवास करते हैं।"

जब बहुत दिनों तक प्रतिक्षा करते रहने पर भी वे साठ सहस्र पुत्र अश्व को लेकर नहीं आये, तब महाराज को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने पौत्र अंशुमान् से कहा—"वत्स ! तुम्हारे सब के सब चचा लोग अश्वमेघ के घोड़े को खोजने गये हैं, किन्तु अभी तक लौटकर नहीं आये क्या बात है। वैसे तो सब के सब शूरवीर बली योद्धा और सर्वजित् थे। उन्हें कोई संग्राम में तो नहीं हरा सकता था। अन्य ही कोई अघटित घटना घट गई है। मैं स्वयं तो यज्ञ-दीक्षा में दीक्षित हूँ, अतः जा नहीं सकता। तुम जाओ और अपने चाचाओं का अन्वेषण करो।

अपने पितामह की आज्ञा मानकर अंशुमान् अश्वके अन्वेषण के निमित्त चले। पृथिवी पर सर्वत्र खोजने पर भी जब उन्हें अश्व का पता नहीं मिला, तो वे अपने चाचाओं के खोदे मार्ग से ही ढूंढ़ते ढूंढ़ते पाताल में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा, कि भगवान् कपिल समाधि में निमग्न हैं, यज्ञीय अश्व वहाँ छूटा हुआ हरी हरी घास चर रहा है, साठ सहस्र भस्म की ढेरियाँ वहाँ पड़ी हैं।

अब तो अंशुमान् सब कुछ समझ गये। उन्होंने अत्यन्त ही करुण शब्दों में भगवान् की स्तुति की और कहा"—हे सर्व भूतात्मन! हे भगवन्! आज आपका दर्शन पाकर हमारी विषयों की उत्कट अभिलाषा समस्त कर्मों का बन्धन और इन्द्रियों का आश्रय रूप हमारा सुदृढ़ मोहपाश नष्ट हो गया है। हे प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करें और मुझे अपनी करुणामयी दृष्टि से अवलोकन करें "

श्री शुकदेव जी कहते है—राजन् ! उस बालक अंशुमान्

प्रभाव को बिना जाने आपके शरणापन्न परम भागवत वैष्णव का घोर अपराध कर दिया है। उससे आपके अतिरिक्त मेरा, कोई भी उद्धार नही कर सकता। आपके नाम का कीर्तन करके पापी से पापी प्राणी भी पावन बन जाता है। मैने महाराज अम्बरीष को मारने के निमित्त कृत्या उत्पन्न की थी। उसे मारकर आपका यह अद्भुत अस्त्र सुदर्शन चक्र मेरे पीछे पड़ा है। इससे मुझे बचाइये। मेरे इस कष्ट को मिटाइये। सुदर्शन को मेरे पीछे से हटाइये।"

भगवान् विवशता के स्वर में बोले—भैया! मै इस विषय में क्या कर सकता हूँ? मै तो पराधीन हूँ।"

यह सुनकर दुर्वासाजी तो हक्के-बक्के होकर श्री हरि के मुख की ओर देखते के देखते ही रह गये। अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ कहने लगे—"प्रभो! आज कैसी बातें आप कह रहे है। आज मेरा कैसा भाग्य हो गया है जो जगत् के ईश्वर हैं, उत्पत्ति स्थिति और संहार के स्वामी हैं, सर्व समर्थ हैं वे आज इस प्रकार की बाते कर रहे हैं। स्वामिन्! हम तो सदा से सुनते आये हैं कि भगवान् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम समर्थ हैं, जो चाहें सो कर सकते है। वे परम स्वतन्त्र हैं, उन पर किसी का अंकुश नहीं। किन्तु आज आप अपने को भी अस्वतन्त्र बता रहे हैं। आप किसके अधीन है। आपसे बडा कौन है?"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया! बड़े छोटे की बात तो मैं जानता नही, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि मैं स्वतन्त्र नहीं पराधीन हूँ।"

दुर्वासा ने विस्मय स्फारित-नेत्रों से श्रीहरि की ओर देखते हुए कहा—"महाराज! सुनें भी तो सही, आपके हृदय पर किसने अधिकार जमा लिया है। एक लक्ष्मी जी ही आपके

नम्रता के साथ हाथ जोड़कर अंशुमान् ने कहा"—वह क्या उपाय है भगवन् ?

भगवान् बोले—"यदि किसी प्रकार तुम गङ्गा जी को यहाँ ले आओ तो उनके जल के स्पर्श से तो इनका उद्धार हो सकता है। मनुष्य चाहे कितना भी पापी क्यों न हो, कहीं भी उसकी मृत्यु क्यों न हुई हो, यदि उसके शरीर भस्म या अस्थि ही लाकर गङ्गा जी में डाल दी जायँ, तो वह सर्व पापों से विमुक्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। यदि तुम गङ्गा जी को यहाँ ला सको, तब तो इनका उद्धार ही सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं।"

यह सुनकर कुमार अंशुमान् ने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की और घोड़ को लेकर अपने पितामह के समीप गये। अश्व को पाकर महाराज सगर ने यज्ञ समाप्त किया, उन्हें पुत्रों के मरने पर कुछ शोक न हुआ। अन्त में वे अपना सब राज पाट अंशुमान् को सौंप कर तपस्या करने वन को चले गये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अंशुमान् अपने चाचाओं के उद्धार के लिये गङ्गा जी को लाने के लिये प्रयत्न करने लगे।"

छप्पय

सुत नहि आये सोचि सगर ने पौत्र पठाये।
अंशुमान् चलि दये कपिल मुनि आश्रम आये॥
कुमर विनय अति करी महामुनि अति हरषाये।
गङ्गा लाओ पितर हेतु ये वचन सुनाये॥
अश्व पाइ मख पूर्ण करि, सगर तपोवन चलि दये।
तदनन्तर मनु वंश के, अंशुमान् भूपति भये॥

भला मैं कभी उपेक्षा कर सकता हूँ। ब्रह्मन्! यह असम्भव है, मैं ऐसे भक्तों का क्रीतदास हूँ, उनके अधीन हूँ, वे मुझे जैसे नचाते हैं, वैसे नाचता हूँ, उन्हीं के लिये निगुण से सगुण और निराकार से साकार बन जाता हूँ, उनके विरुद्ध बर्ताव करने की मुझमें शक्ति नहीं, सामर्थ्य नहीं।"

दुर्वासाजी ने कहा—"भगवन्! छोड़ने वाली बात तो मै कह नहीं रहा। मेरा निवेदन तो इतना ही है कि आप मुझे संकट से बचावें।"

भगवान् ने कहा—"आपको बचाना तो भक्त के विरुद्ध आचरण करना है, उसे छोटा समझना है। उस पर शासन करना है। प्रेम में शासन नहीं, विरुद्धाचरण नहीं, वहाँ तो अपनी इच्छा का प्रेमी की इच्छा मे मिला देना होता है। जैसे सती साध्वी स्त्री सेवा के प्रभाव से पति को अपने वश में कर लेती है। जब वह अपनी निज की कुछ इच्छा रखती ही नहीं, तो पति की इच्छा का भी विघात कर देता है। पति भी अपनी इच्छा को उसकी इच्छा में मिला देता है। शरीर दो होने पर भी एक ही प्राण दो हृदयों में एक साथ स्वर में धड़कता है। एक ही मन दो देहो में काम करता है। द्वित्व मिटकर एकत्व में परिणित हो जाता है। जब कोई दूसरा हो उस पर शासन किया भी जाय। भक्तो का तो अपना हृदय होता ही नहीं। वे तो मेरे हृदय में ही अपने हृदय को मिला देते हैं। मेरे भक्त मेरी अनन्य भक्ति और प्रेमरूपा आसक्ति से प्रभाव के आप्त काम-हो जाते हैं। सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य ये चार प्रकार की मुक्ति बताई है। मुक्ति को ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। मेरे भक्त मेरी सेवा के सम्मुख मुक्तियों को भी तुच्छ समझते है, मैं उन्हें मुक्ति देता हूँ, तो भी वे उन्हें नहीं चाहते,

पुत्र ही कर सकते है, इसीलिये पितर सदा ऐसी मनोकामना करते रहते हैं, कि हमारे वंश में ऐसे लोग उत्पन्न हों, जो कभी वंश विच्छेद न होने दें। वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें। इसीलिये सभी सद्गृहस्थ सत्पुत्र की कामनायें करते हैं, और पुत्र प्राप्ति के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते रहते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज सगर जब राजपाट छोड़कर और अंशुमान् को समस्त पृथिवी का राज्य भार सौंप कर वन को चले गये तब अंशुमान् को रात्रि दिन यही चिन्ता लगी रहती थी, कि कंसे गगाजी आवें और कैसे हमारे पितरों का उद्धार हो। वे सदा यही सोचा करते थे। उनके एक पुत्र भी हो गया,जिसका नाम दिलीप रखा गया। कुमार दिलीप बड़े ही तेजस्वी और होनहार थे, जब वे कुछ बड़े हुए, तो महाराज अंशुमान् पृथिवी का राज्य भार उन्हे सौंपकर गङ्गाजी को लाने के लिये तप करने चले गये। वे हिमालय पर जाकर गंगा जी को प्रसन्न करने के निमित्त अत्यन्त घोर तप करने लगे,किन्तु गंगाजी का आना कोई सहज काम तो था, ही नही। गङ्गाजी उनकी तपस्या से प्रसन्न नही हुई। कुछ काल में वे इस लोक को त्याग कर स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी को लाने और अपने पितरों के उद्धार की बात उनके मन की मन में ही रह गई।

दिलीप ने जब सुना कि मेरे पिता अकृत कार्य होकर ही स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी के लाने की उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, तो वे अत्यन्त दुखी हुए। किन्तु वे करते क्या, उनके तब तक कोई सन्तान नहीं थी। कुछ काल के पश्चात उनके पुत्र उत्पन्न हो गया,जिसका नाम भगीरथ रखा गया। कुमार भगीरथ, बड़े ही भगवद् भक्त, शान्त, अध्यवसायी और साहसी

और माया मोह को क्या जानो। ब्रह्मन्! सती साध्वी सुन्दरी अनुकूल आज्ञाकारिणी पतिपरायणा पत्नी में कितना आकर्षण है इसे सत्पति के अतिरिक्त कोई किसी भी प्रकार जान ही नहीं सकता। अपने शरीर के सार से उत्पन्न होने वाले अपने अनुरूप सुन्दर सुशील पुत्र के मुख में कितनी मोहकता है, इसे बिना पिता बने तुमसे शुष्क हृदय के बाबा जो कैसे जान सकते है। जो इतने आकर्षणों को तथा मोह ममता को त्याग कर मुझमें ही चित्त लगाते है उन्हें तृणवत् त्यागकर मुझे ही अपना सर्वस्व समझते है। मेरे अतिरिक्त उनके लिये ससार मे कुछ है ही नहीं। जिन्हें अपने भक्त होने का भी अभिमान नही। ऐसे निष्काम अनन्य भक्त संसार में थोड़े हैं। आप मेरे भक्त अवश्य हैं किन्तु ब्रह्मन्! बुरा न मानें वह बात कुछ और ही है। अस्तु, अब आप मेरे समीप आये हैं तो निराश होकर लौटाना भी उचित नही। शरणागत प्रतिपालन करना मेरा बाना है। मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला, मेरे समीप आने वाला कभी अकृतकार्य होकर नही लौटता। अतः मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूँ।"

दुर्वासाजी ने उल्लास से साथ कहा—"हाँ महाराज! उपाय ही बताइये। यह व्याधि मेरा पीछा भी छोड़े किसी भाँति।"

भगवान् बोले—"देखो ब्रह्मन्! यदि कोई अपराधी हो, अल्पवीर्य हो, तो उस पर किया हुआ अभिचार आदि का प्रयोग उसका अनिष्ट कर देता है, किन्तु निरपराध साधु पुरुषों पर जो व्यर्थ प्रहार किया जाता है, वह उलटा प्रहारकर्ता पर ही पड़ता है। वस्तुएं पात्र पाकर अच्छी बुरी बन जाती हैं। दूध दही अमृत हैं उन्हें ही तांबे के पात्र में रख दो तो वे विष बन जायँगे। गंगा जल को सुरा के घड़े में रख दो तो अपेय हो जायगा। इसी प्रकार तपस्या और विद्या सदाचारी ब्राह्मणों के

आभा से सामने का पर्वत शुभ्र होने पर भी अत्यन्त शुभ्र हो रहा था। पान की लालिमा से रगे हुए अधरों की काँति जब हिमाच्छादित पर्वतों पर पड़ती तो ऐसा लगता था मानों आकाश का इन्द्रधनुप उतर कर हिमशृंगों पर घूम रहा है। उनके कंठ में मणिमुक्ताओं की मालायें शोभा दे रही थी। उनकी रेशमी नीली साड़ी आकाश की नीलम को तिरस्कृत कर रही थी। वे हरी कंचुकी से ढके उनके पीन पयोधर सन्तानों को अमृत पिलाने के निमित्त हिलते हुए व्यग्रता सी प्रकट कर रहे थे। क्षीणकटि के कारण वे मकर पर वैठी हुई सुवर्णलता के समान हिल सी रही थीं। लाल लहँगा पर जो सुवर्ण की चित्रकारी हो रही थी, उससे उनका सम्पूर्ण अंग दमक रहा था। वे अपने युगल उरुओं को मकर की पीठ से सटाये हुए थी। वे मंद मंद मुसकरा रही थी।"

महाराज भगीरथ नेत्र बन्द किये, त्रैलोक्य पावनी तरणि तारिणी जगदुद्धारिणी अघहारिणी विष्णुपादाब्ज संभूता भगवती सुरसरि का ध्यान कर रहे थे, सहसा उन्होंने अपने हृदय कमल पर खड़ी हुई माता की अद्‌भुतमूर्ति निहारी हृदय में जगज्जननी के दर्शन पाकर राजर्षि भगीरथ के रोम खिल गये। उन्होंने अपने परिश्रम को सफल समझा वे मन ही मन भगवती की स्तुति करने लगे। सहसा वह मनहारिणी चित्त कार्षिणी मनोहर मूर्ति हृदय प्रदेश से अन्तर्हित हो गई।

उस अलौकिक रूप राशि पूर्ण देवी के अन्तर्हित होते ही, महाराज का चित्त अत्यन्त व्याकुल हुआ, उनकी अभी दर्शनों से तृप्ति नहीं हुई थी। उसी हड़-वड़ाहट में उनके नेत्र खुल गये। अब वे सम्मुख क्या देखते हैं, त्रिभुवन तारिणी भगवती गँगा

अम्बरीष की शरण में दुर्वासा की दुःख निवृत्ति

[६२०]

एवं भगवताऽऽदिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः ।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

फिर हू एक उपाय बताऊँ तुमकूँ मुनिवर।
अम्बरीष नृप निकट जाहु चूकौ नहिँ अवसर॥
शान्त होइगो चक्र मिटेंगे दुस्सह दुख सब।
प्रभु आज्ञा स्वीकारि चले मुनि नृप के ढिंग तब॥
दुःखित दुर्वासा तुरत, नृप पैरनि महँ परि गये।
अस प्रयत्न मुनि को निरखि, अति लज्जित भूपति भये॥

भगवान् के भक्त अत्यन्त ही नम्र होते हैं। भगवान् उन पर सम्मान के फल लादकर फलवान् वृक्ष की भाँति और भी

---

*श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार जब भगवान् ने दुर्वासा जी को अम्बरीष की शरण में जाने की आज्ञा दी तो वे चक्र के ताप से संतप्त हुए राजा के पास गये और उन्होंने जाकर अत्यन्त दुखित होकर उनके पैरों को पकड लिया।"

जगत में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप भवानी पति भगवान् भूतनाथ तुम्हारे वेग को धारण करेंगे।"

गंगाजी को यह सुन कर कुछ गर्वसा हुआ। वे सोचने लगीं रुद्र भला मेरे वेग को कैसे धारण कर सकते हैं। अस्तु उनसे तो मैं निबट लूँगी, वे तो मेरी बहिन के पति ही है। इस राजा पर अपने भाव को प्रकट क्यों करूँ।" यह सोच कर बोली—"अच्छी बात है, यदि भगवान् रुद्र मेरे वेग धारण कर भी सकें, तो भी मुझे एक आपत्ति और है।"

महाराज भगीरथ ने कहा—"वह और कौन सी आपत्ति है माताजी?"

माँ गगा बोली—"वह यहकि तुम मुझे पापियों के उद्धार के ही लिये ले चल रहे हो। तुम्हारे पितरों को तो मैं तार ही दूँगी। जब वे सब इतने क्रूर कर्मा घोर पापी तर जायेंगे, तो संसार के सभी पापी आ आ कर मुझमें स्नान करेंगे, अपने पापों को मुझमें छोड़ जायेंगे। वे लोग तो अपने पापों को मुझ में छोड़ कर निष्पाप हो जायेंगे, मैं उन इतने पापों को कहाँ जाकर धोऊँगी, इसका भी तुमने कोई उपाय सोचा है?" मैं तो पापों के भार से दब जाऊँगी, स्वच्छ से काली हो जाऊँगी।

शीघ्रता के साथ महाराज भगीरथ बोले—"माताजी। इसके लिये आप चिन्तित क्यों होती हैं, इसका उपाय तो बड़ा सरल है?"

गंगाजी ने उत्सुकता से कहा—"क्या उपाय है, भैया। इसका?"

दूर से ही उन्होंने अपनी ओर दौड़े आते हुए दुर्वासा मुनि को देखा। उनके पीछे सहस्त्रों सूर्यों के सदृश जाज्वल्यमान सुदर्शन चक्र भी अपने पूरे वेग से दौडा चला आ रहा था। मुनि
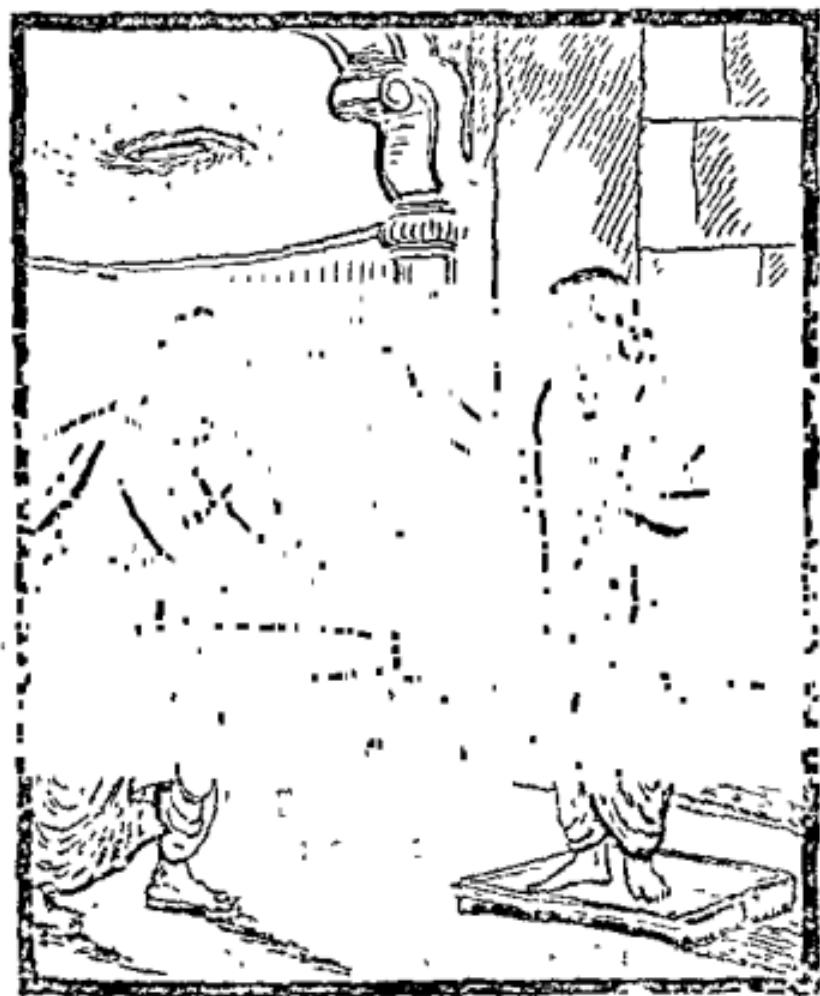
आते ही राजा के पैरों पर पड़ गये। जैसे अनजान में सर्प पैर से लिपट जाय और उस समय मनुष्य जिस प्रकार भयभीत होकर भागता है, उसी प्रकार महाराज मुनि के पैर पड़ते ही

सती प्रज्वलित अग्नि छुला दो, वह सब को तुरन्त जला ही न देगी, उसकी राख भी न रहेगी।"

गंगा जी ने कहा—"अच्छी बात है तुम मेरे वेग को धारण करने के निमित्त शङ्कर जी को प्रसन्न कर लो। वे स्वीकार कर लेंगे तो मैं आऊँगी।" ऐसा कह कर गङ्गा जी तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गईं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! गंगा जी के अन्तर्धान हो जाने पर महाराज ने भूमि में मस्तक टेक कर उस दिशा को नमस्कार किया, जिधर जगज्जननी अन्तर्हित हुई थीं। तदनन्तर वे श्री शङ्कर जी को प्रसन्न करनेके निमित्त घोर तप करने लगे।"

छप्पय

करत करत तप भूप दिलीपहु स्वर्ग सिधारे।
तिनके सुत नृप भये भगीरथ सबके प्यारे॥
पिता पितामह मरे नहीं श्रीगंगा आई।
पितर मरे यम सदन दुःख तें ते बतलाई॥
भूप भगीरथ राज जतौं गङ्गाजी लैवे गये।
अबके जननी तुष्ट ह्वै, नरपति कूँ दरशन दये॥

से भी अधिक है। आप अपने दिव्य तेज से अज्ञानियों के तमोमय अज्ञानान्धकार का नाश करने वाले हो। तुम्हारी महिमा अपरम्पार है। तुम भगवान् के परम प्रिय अस्त्र और उनकी संकल्प शक्ति के प्रतीक हो, जब वे तुम्हें संकल्प पूर्वक दैत्य दानवों की सेना में छोड़ते है, तब तुम प्रलयाग्नि के समान उन मदोमन्त्त असुरों का संहार कर डालते हो, उन्हें मुक्ति मार्ग दिखा देते हो। जिनके अंग से आपका स्पर्श हो जाता है, जो आपकी आकृति को ही अगों पर अंकित करते हैं वे फिर भय के दर्शन नहीं करते। सभी परम पद के अधिकारी बन जाते हैं।

भगवान् ने तुम्हें दुष्टों के दमन और शिष्टों के संरक्षण के निमित्त ही नियुक्त किया है। मैं आपके पादपद्मों में प्रणाम करता हूँ। सहस्रधाराओं वाले सर्वेश्वर के सर्वोत्कृष्ट अनुपम आयुध ! हे सब को सुख देने वाले सुदर्शनचक्र ! तुम्हें नमस्कार है।

सुदर्शन चक्र बोले—"राजन् ! तुम क्यों नमस्कार कर रहे हो ? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ ? तुम मेरे कार्य में विघ्न क्यों डाल रहे हो ?"

यह सुनकर महाराज अम्बरीष बोले—"प्रभो ! यदि आप मेरा कुछ प्रिय करना चाहते हैं, तो मेरा सबसे प्रिय कार्य यही है कि इन विप्रवर के ऊपर आप प्रसन्न हो जायं। इससे मेरा ही कल्याण न होगा मेरे सम्पूर्ण वंश का उद्धार होगा, मेरे कुल की कीर्ति स्थिर हो जायगी, हम घोर पाप ताप और अभिशाप से बच जायँगे।

सुदर्शन चक्र ने कहा—"राजन ! ये तो आपके अनिष्ट करने वाले हैं। ये तो आपका विनाश करने पर उतारू थे। तुम इनकी रक्षा क्यों चाहते हो ?"

पड़ी।" इसका सारांश यह है, कि सब कार्य समय आने पर ही होते हैं। सबका काल निश्चित है। काल भगवान् का एक रूप है। प्रयत्न कोई भी कभी भी किसी का भी व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु उसका परिणाम अवसर पर ही प्रगट होता है। आप चाहें अमावस्या के दिन पूर्ण चन्द्र उदित हो जाय तो नहीं हो सकता। किन्तु अमावस्या के अन्धकार में पूर्णिमा का प्रकाश निहित है, अमावस्या है, तो एक दिन पूर्णिमा भी आवेगी। आप चाहें कि नित्य पानी देते रहें और आम में शीघ्र फल आ जायँ, तो यह असम्भव है। कितना भी पानी दें फल समय से ही आवेंगे। पानी देना व्यर्थ नहीं, पानी का फल होगा, सुन्दर फल लगेंगे, अच्छे लगेंगे। किन्तु लगेंगे, समय से ही। एक बड़ा भारी पत्थर है, कुछ आदमी उसे तोड़ना चाहते हैं बार-बार घन मारते हैं, वह टूटता नहीं। दिन भर उन्होंने परिश्रम किया, पत्थर नहीं टूटा। दूसरे दिन दूसरे तोड़ने वाले आये ज्योंहीं उन्होंने एक घन मारा फट से पाषाण फट गया, टूट गया। तो क्या कल जिन्होंने दिन भर श्रम किया था, वह व्यर्थ हो गया? नहीं, सो बात नहीं है। उनका श्रम व्यर्थ नहीं गया। उनकी चोटों ने उसे जर्जरित बना दिया वह निर्बल निःसत्व हो गया, किन्तु उस दिन उसके टूटने का काल नहीं था, उन्हें तोड़ने का श्रेय प्राप्त होना नहीं था। वह तो दूसरे के ही भाग्य में था। इसीलिए दूसरे दिन वह टूट गया। एक आदमी सतत प्रयत्न करते हैं, उनको कोई जानता नहीं उनका नाम नहीं होता। दूसरा उसमें हाथ लगाता है, सर्वत्र उसका नाम होता है। कोयलों की खान के नीचे एक नीलम नाम का बहुमूल्य पाषाण निकलता है, जिस कोयलो की खान वालों को वह मिल जाता है, वे मालामाल हो जाते हैं। विशेषज्ञों ने भूगर्भ विद्या के अनुसार

भी स्नेह करे, वही वास्तव में धीर वीर भगवद् है। वही पुरुषों में सर्व श्रेष्ठ है। देखिये मैंने आपका कितना अपकार किया था। किन्तु आपने उसकी ओर ध्यान न देकर मेरी मङ्गल कामना ही की। मुझे भयंकर सन्ताप से बचाया। यह वर्ताव आपके महत्व के अनुकूल ही है।"

महाराज अम्बरीष ने कहा—"भगवन् ! आप मुझे लज्जित क्यों करते हैं। मैं तो ब्राह्मणों के चरणों की धूलि हूँ, आप भला मेरा कभी अपकार कर सकते है। आपके सभी कार्य लोक कल्याणार्थ ही होते हैं मैं तो आपके दासों का दास होने योग्य भी नहीं।"

इस पर दुर्वासा जी बोले—"महाराज ! ऐसी विनय आपको ही शोभा देती है। आपकी भगवद्भक्ति, विनय, शालीनता तथा नम्रता आपके अनुरूप ही है। जिन्होंने भक्तों के परमाराध्य प्रभु के पादपद्मों को दृढ़ता पूर्वक पकड लिया है। उनके लिये संसार में कोई भी वस्तु असम्भव नहीं है। कुछ भी दुस्साध्य नहीं है। राजन् ! आपने जो मद, अहंकार और क्रोधादि दुर्गुणों का सर्वथा त्याग कर दिया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। भगवान् के भक्तों के लिये कुछ भी दुस्त्यज नहीं आप तो कृतकार्य हैं। आपके लिये तो कुछ कर्तव्य शेष रहा ही नहीं।"

महाराज, दुर्वासा जी की ऐसी विनय देखकर अत्यन्त ही लज्जित हुए और बोले—"प्रभो ! आप मेरे ऊपर अपराध क्यों चढ़ा रहे हैं। मुझे प्रशंसा रूप विष क्यों पिला रहे हैं। भगवन् ! हम तो सदा से आपके किंकर है।"

दुर्वासाजी ने कहा—"राजन् ! तुम्हारी सहनशीलता देखकर मुझे ईर्षा होती है। आपने मेरे इतने बड़े अपराध की ओर ध्यान

अवनि पर अवतरित होने का वचन दिया है, कृपा करके आप उनके प्रबल वेग को धारण करें, यही मेरी आपके पुनीत पादपद्मों में विनीत प्रार्थना है।"

शिवजी ने कहा—"अच्छी बात है, गङ्गाजी से कह दो,वे चाहे जितने वेग से आवे मैं उन्हें अपनी जटाओं में धारण करूँगा।" मैं कैलाश के शिखर पर आसन लगाकर बैठता हूँ, गङ्गा आवें। यह सुनकर महाराज के हर्षका ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने भगवती सुरसरि की प्रार्थना की।

माता तो चञ्चला चपला बालिका ही ठहरी उन्हें एक विनोद सूझा। वे सोचने लगी—"ये शङ्कर भोलेनाथ आक धतूरा खाकर सदा कैलाश की बरफ में ही लेट लगाते रहते हैं। जबसे इन्होंने विषपान किया है, तबसे इन्हें शीत स्थान, जल स्नान अत्यधिक प्रिय हो गया है। क्यों नहीं मैं अपने प्रबल वेग के सहित इन्हें और इनके प्रिय कैलाश पर्वत को साथ लिए हुए पाताल में घुस जाऊँ।"गङ्गाजीका शिवजी से ऐसा ही सम्बन्ध है जिसमें हँसी विनोद का पूर्ण अवसर है, वहिन के पति ही ठहरे। यह सोचकर भगवती अपने अत्यन्त प्रभावशाली तेज से हर-हर करती हुई स्वर्ग से अवतरित हुईं। उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर उस दृश्य को देखने के लिए अपने विमानों में बैठकर कैलाश के ऊपर उड़ रहे थे। कल कल निनादिनी पतित पावनी, भवभय हारिणी भगवती अपने अञ्चल को वायु में उड़ाती, अनन्त जल राशि के रूप में शिवजी की जटाओं के ऊपर आकर गिरी। शिवजी को ऐसा लगा मानों कोई नन्हें-नन्हें जल कणों से उनका अभिसिंचन करने लगा है। आज उन्होंने भङ्ग कुछ अधिक चढ़ाली थी। गणों ने भङ्ग में धतूरे और तांबे की मात्रा अधिक कर दी थी। जब शीतल

छप्पय

चक्र विनय नृप करी लखे भययुत दुर्वासा।
शान्त सुदर्शन भयो भई मुनिवर कूँ आसा॥
बोले नृप तुम धन्य धन्य तुम्हारी है जननी।
धन्य नभग शुभ वंश प्रजा दारा धन घरनी॥
महिमा भक्तनि की लखी, गर्व खर्व मेरो भयो।
दुतकारयो मोकूँ सबनि, शरन हेतु जहँ जहँ गयो॥

अपना वेग दिखाया, सम्पूर्ण बल पराक्रम लगाया, किन्तु उन्होंने जटाजूट धारी की जटाओं का पार नहीं पाया। वे उन्हीं में उलझ गईं, भटक गईं, मार्ग भूल गईं। अब तो वे बन्धन में पड़ गईं। शिवजी नेत्र बन्द किये ध्यान मग्न थे, गङ्गाजल का एक बिन्दु भी गिरि के ऊपर न गिरा। पत्नी की भगिनीके साथ भूतनाथ ने विचित्र विनोद कर दिया।

महाराज भगीरथ घबराये। इन दोनोंका तो विनोद हुआ मेरा मरण हो गया। जैसे तैसे तो गङ्गाजी को प्रसन्न किया, आकर भी शिवजटाओं में विलीन हो गईं। फिर उन्होंने शिवजी की स्तुति आरम्भ की। शिवजी ने नेत्र खोले और बोले—"राजन् मैंने गङ्गाजी को धारण कर तो लिया अब तुम मुझसे क्या चाहते हो, अब तुम मेरी विनय क्यो कर रहे हो ?"

विवशताके साथ राजा बोले—"अजी, महाराज धारण करने का अर्थ यह तो है ही नहीं कि आप उन्हें अपनी जटाओं में ही छिपाये रखें। मैंने तो अपने पितरों के उद्धार के लिए प्रार्थना की थी। जब आपको जटाओं में ही रखनी थी, तो मेरे जाने जैसी-ही ब्रह्मकमण्डलु में वैसी ही आपकी जटाओं में कृपा करके इन्हें अवनि पर आने दीजिए। समुद्र तक जाने दीजिये। मेरे पितरों की भस्म को बहाने दीजिये। तब मेरा श्रम सार्थक होगा।"

शिवजी बोले—"अजी राजन्! मुझे तो कुछ निद्रा सी आगई थी। अच्छी बात है लो मैं तुमको गङ्गाजी देता हूँ। देखो, विष की उष्णता से मुझे गरमी कुछ अधिक कष्ट कर प्रतीत होती है, अतः सम्पूर्ण गङ्गा को तो मैं छोड़ूँगा नहीं। तुम्हारे काम भर के लिये एक धारा दिये देता हूँ।" यह कहकर शिवजी ने अपनी एक जटा से उनका प्रवाह पर्वत पर गिराया।

क्रीड़ायें करते हैं। श्रीमद्भागवत में उद्धव को ज्ञान देते हुए भगवान् ने कहा है—'उद्धव ! मैं तुझे उस ज्ञान का उपदेश देता हूँ, जिसे मैंने पितामह भीष्म के मुखसे सुना है।" भला बताइये, जिनके संकल्प से संपूर्ण सृष्टि होती है, जिनकी निश्वास ही वेद हैं, वे भीष्म से सुनकर क्या उपदेश देंगे। जब धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् के बहुत समझाने पर भी राज्य करने को उद्यत न हुए तब भगवान् उन्हें पितामह भीष्म के निकट ले गये और उनसे उपदेश देने को कहा। भीष्म ने कहा—"हे वासुदेव ! आप ही युधिष्ठिर को उपदेश क्यों नहीं देते। आप तो ज्ञान स्वरूप हैं। "भगवान् ने हंसकर कहा—"यह सब तो सत्य ही है, मुझे भक्त की महिमा जो बढ़ानी है, चौदहों भुवनों में आपकी कीर्ति जो स्थापित करनी है। इसीलिये तुम्हारे हृदय में प्रेरणा करके मैं तुम्हारे मुख से उपदेश दिलाना चाहता हूँ !" मुनि दुर्वासा कोई और तो थे नहीं। स्वयं साक्षात् शंकर ही ने दुर्वासा का वेष बना लिया है। चक्र भी कोई दूसरे का नहीं था। शिवजी ने ही विष्णु भगवान् को उसे दिया था। शिवजी का ही वह था। जैसे रामलीला में पिता को रावण बना देते हैं—पुत्र राम बन जाता है। परस्पर में दोनों क्रोध करके लड़ते हैं, एक दूसरे पर प्रहार करते हैं। खेल समाप्त होते ही फिर वही बातें। भगवान् ऐसी लीलायें क्यों करते है ? इस क्यों का उत्तर यही है कि उन्हें कुछ काम धन्धा तो है नहीं। निष्काम है। बैठे ठाले यही सब करते रहते हैं—बैठा बनिया क्या करे, इस कोठी के धान उस कोठी में करे। इसलिये भक्तों में न कोई बड़ा, न छोटा सब भगवान् के स्वरूप ही है। क्रीड़ार्थ ऐसी लीलायें करते रहते हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! दुर्वासा जी ने अत्यन्त

कार सुर वधूटियों की कङ्कण किंकिणि और नूपुर चूड़ियों के झंकार, गायन की सुरीली सरल ताल, वाद्योंकी सङ्गीतमय ध्वनि गङ्गाजी का कलरव शब्द, पाषाणों की चपेटों की चट्ट पट्ट आकाश में उड़ते हुए पक्षियों का कलरव तथा भगीरथ के रथका गंभीर जल भरे मेघों के समान गंभीर घरघराहट ये शब्द एक ही लय में साथ ही हो रहे थे। जैसे मृदङ्ग, वीणा, पणव, मञ्जीरा आदि विविध वाद्य विविध भाँति के शब्द करने पर भी एक ताल में एक स्वर में बजते हैं। इस विश्वमय अलौकिक सङ्गीत की सुरीली सुखमयी ध्वनि से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड भर गया। चराचर प्राणी गङ्गा के अवतरण से प्रमुदित हुए।

महाराज भगीरथ का रथ ऐसा दिव्य अलौकिक था कि वह जल में थल में सममें विषम में नभ में तथा गिरिशिखरों पर समान रूप से चल सकता था, उसके पीछे हर-हर मन्त्र का अविच्छिन्न अखण्ड कीर्तन करती हुई, भगवती भागीरथी चल रही थीं। जैसा कि चञ्चला बालिकाओं का सहज स्वर होता है उसी स्वभावानुसार वे टेढ़ी मेढ़ी चल रही थीं। कभी किसी गिरि शिखर से टकरा जाती, तो तुरन्त वहाँ से लौटकर टेढी चलने लगतीं, कभी किसी ऊँची चट्टान से एक साथ ही कूद पड़ती, कभी मुड़ जाती, कभी बढ़ जाती, कहीं सिकुड़ जाती, कहीं फैल जातीं, कहीं दो पहाड़ों के बीच में पिच जाती और फिर शनैः शनैः करवट के बल चलकर उसे पार करती। कहीं शीघ्रता से दौड़ने लगती, कहीं थक कर गम्भीर हो जातीं। कहीं उछल जातीं, कहीं पाषाण खण्डों से क्रीड़ा ही करने लगतीं। कहीं किसी पहाड़ के नीचे ही नीचे बहने लगतीं, कहीं ऊपर बरफ है नीचे से सर्र से निकल जाती, कहीं गोल गोल रंग विरंगे पाषाण खण्डों के साथ खिलवाड़ ही करने लगतीं। उन्हें एक दूसरे से

तुम्हारे पादस्पर्श से यह पूरी पृथ्वी पावन बन गई, तुम्हारे राजा होने से यह सम्पूर्ण प्रजा भगवान् की भक्ति में लग गई। मैं भी क्षण भर के संसर्ग से धन्य बन गया। भगवद् भक्त का महत्व समझ गया। अच्छी बात है अब मैं लोकपितामह ब्रह्माजी के दर्शन करने ब्रह्मलोक में जाऊँगा। मुझे जाने के लिये अनुमति दीजिये।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं तो भक्तों के दासों का दास होने योग्य नहीं। आपने अपनी महिमा से ही मुझे मान देने के लिये यह सब लीला रची है। इसे मैं भली भाँति जानता हूँ, नहीं तो आपका ही अस्त्र यह आपके प्रति ऐसा विरुद्धाचरण कर सकता है? मैं तो कृतार्थ ही हो गया, जो एक वर्ष पर्यन्त आपने मुझे अपने ध्यान का निरंतर अवसर दिया। मैं आपका भक्त हूँ, आपके अधीन हूँ इसी प्रकार सदा मेरे ऊपर कृपा करते रहे और समय-समय पर मुझे दर्शन देकर मेरे कर्तव्य को स्मरण कराते रहें।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार दोनों परस्पर प्रेम पूर्वक मिलकर एक दूसरे से सत्कृत होकर विदा हुए। महाराज उन्हें भवन के द्वार तक नंगे पैरों पहुँचाने गये। मुनि उसी समय योग द्वारा आकाश मार्ग से उड़ कर ब्रह्मलोक चले गये।

मुनि के चले जाने पर राजा धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। अब उनकी अवस्था अधिक हो गई थी। उनके विरूप, केतुमान् और शम्भु ये तीन पुत्र थे। उनकी भार्या सुशीला साध्वी और पतिपरायणा थी। प्रजा के लोग उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, किन्तु अब उनका चित्त राज्यपाट में लगता नहीं था। पुत्र भी योग्य हो चले थे। वे

भागीरथी का नाम जाह्नवी पड़ा, उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ। आप इस परम पावन पुण्य प्रदायिनी कथा को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

गरजत तरजत चली वेगतें गङ्गा माता।
गिरीं जहाँ गिरिजेश विराजें भवभय त्राता॥
सोचें शिवकूं सङ्ग लिये पाताल पधारूँ।
जीजाजी की जटनि माहिँ जलधारा डारूँ॥
भोले बाबा भङ्ग की, बैठे सहज तरङ्ग महँ।
जटनि माहिँ गङ्गा गिरीं, परी भङ्ग तिन रङ्ग महँ॥

से युक्त क्षत्रोपेत द्विज हुए। क्षत्रियों से उच्च और ब्राह्मणों से कनिष्ट लोग हुए।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार मैंने यह अत्यन्त संक्षेप में राजर्षि अम्बरीष का और उनके वंशों का वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

छप्पय

अम्बरीष के तनय तीन त्रिभुवन विख्याता।
भूपति बड़े विरूप प्रजा के भय दुख त्राता॥
केतुमान अरु शम्भु बन्धु अनुकूल रहें नित।
सुत विरूप पृषदश्व रथीतर तिन के शुभ सुत॥
नृपति रथीतर सुत रहित, भये आङ्गिरस क्षेत्रसुत।
वीर्य अङ्गिरा तैं भये, क्षात्र कर्म द्विज तेज युत॥

हैं, युद्ध हो जाता है। क्षण भर में सब भूल जाते हैं, एक हो जाते हैं। कुट्टी हुई मित्रता पुनः मिल्ली के रूप में परिणित हो जाती है। इसीलिये क्रीड़ा में सभी संभव है। जैसे प्रेम क्रीड़ा का अंग है वैसे ही क्रोध कलह, मान भी उसका अङ्ग है। मान के बिना प्रेम में स्वाद नहीं। कलह के बिना क्रीड़ा में नूतनता नहीं। भगवान् नाना रूप रखकर इस जगत् नाट्यस्थली में क्रीड़ा कर रहे है। गङ्गा भी उन्हीं का द्रव रूप है, विष्णु,शिव,विरंचि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवता, पितर सभी उनके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। क्रीड़ा में शंका के लिये स्थान नही ऐसा क्यों हुआ ? क्रीड़ामे क्यों के लिये स्थान ही नहीं।

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! आपने मुझसे गंगाजी के जाह्नवी नाम पड़ने का कारण पूछा था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। भगवती भागीरथी चलते समय बड़ी इठला रही थीं, वे बड़ी उत्सुकता प्रकट कर रही थीं। अब वे निरी बालिका ही नहीं रही थीं। हिमालय की गोद से उतर कर वे सयानी हो गई थीं। छोटी से बड़ी हो गई थीं। चंचलता तो कुछ कम हो गई थी। वे ज्यों ज्यों बढती जाती थीं, त्यों त्यों गम्भीर होती जाती थी। अब उछलकर चलना उन्होंने छोड़ दिया। अब वे किलकारी भी नहीं मारती थीं, अब तो चुपचाप शांति के साथ गंभीर भाव से चल रही थी। अब वे पहाड़ों में जैसी रेख की भाँति पतली थीं, वैसी नहीं रहीं। अब उनका पाट बढ़ गया था। अब वे पाषाण खण्डों से खिलवाड़ भी नहीं करती थी। अब वे अंचल से अपने सिर को ढककर चलती थीं। वे ज्यों-ज्यों पतिगृह के समीप पहुँचतीं त्यों-त्यों शान्त और गम्भीर होती जाती थीं, यद्यपि बाल्यकाल की चंचलता उनमें नहीं रही, फिर भी यौवन का अल्हड़पन और दूसरों को बनाने खिजाने और हँसने

पर सदा से अधिक ध्यान रखा जाता था। राज्य परम्परा विशुद्ध बनी रहने से पूर्वजों के वंश परम्परागत सद्गुण विलुप्त नहीं होते। जहाँ राजवंश में संकरता का दोष आ जाता है, वहीं क्रमश: राज्य वंश क्षीण हो जाता है। विशुद्ध भावना से शुद्ध रजवीय की सन्तान विशुद्ध होगा। जिस वंश में धर्म के भाव परम्परागत अक्षुण्ण चले आते है, वह वंश पुण्यश्लोक तथा धर्म वंश कहलाता है। उस वंश का वर्णन श्रवण, चिन्तन, पुण्य प्रद माना गया है, उसके संकीर्तन से, ध्यान से मनन से मनुष्यों के समस्त दुरित दूर होकर पुण्य की वृद्धि होती है। अत: पावन वंशों का चरित्र प्रतिदिन श्रवण करना चाहिये।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी आप हमें वर्तमान मनु विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु के वंश का विस्तार सुना रहे थे। आपने वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि ये १० पुत्र बताये थे। सूची कटाह न्याय से सबसे बड़े पुत्र इक्ष्वाकु के वंश को छोड़कर शेष ९ मनु पुत्रों के सम्बन्ध में आपने हमें संक्षेप से सुनाया। वह सब हमने बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण किया। अब हम मनु के ज्येष्ठ पुत्र पुण्यश्लोक महाराज इक्ष्वाकु के वंश का विस्तार से श्रवण करना चाहते हैं जिसमें रघु, ककुत्स, सगर, भगीरथ, तथा दशरथ ऐसे राजर्षि हो चुके हैं। जिस कुल में अवधकुलमंडन, कौशल्यानन्दवर्धन परात्पर प्रभु नराकृति में अवतरित हुए है। उस पुण्य वंश का वर्णन आप हमसे और करें। तब फिर चन्द्रवंश का चरित्र कहियेगा।"

यह सुन कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूत जी बोले—"महाराज! आप लोगों का ही जीवन सार्थक है जो भगवान् और भागवतों के चरित्रों को इतने चाव से सुनते हैं। जो मनु-

वल से अग्नि तत्व को प्रदीप्त कर दिया; सब जल कारण में विलीन हो गया। आदि प्रवाह को रोक दिया। यह तो कोई बहुत दिन पहिले की सत्ययुग की बात है। अभी कलियुग में कुछ ही वर्ष पूर्व एक विचित्र घटना घटित हो गई। एक योगीने योग का विचित्र चमत्कार दिखाया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें भी तो सुनाइये क्या चमत्कार दिखाया।"

सूतजी बोले—"भगवन्! ग्वालियर नामक प्रयाग से दक्षिण में एक छोटा सा राज्य है। वहाँ महाराष्ट्र देश के राजा राज्य करते हैं। एक दिन एक योगी आये, वे अपनी मस्ती में नंगे ही राजमहल के भीतर जा रहे थे। प्रहरी ने उन्हे रोक दिया। वे रुक गये और एक वाटिका के चबूतरे पर खड़े होकर लघुशंका करने लगे। फिर क्या था उनका जो लघुशंका का प्रवाह आरम्भ हुआ, वह रुका ही नहीं। सम्पूर्ण वगीची भर गया। किलेके चारों ओर की खाई भर गई। राजमहल और नगर भी डूबने लगा रात्रि भर में प्रलय सी आ गई। लोगों ने दौड़ कर महाराज से निवेदन किया। महाराज दौड़े-दौड़े आये महात्मा के पैरों पड़े तब कहीं जाकर उनका प्रवाह रुका। उसी दिन से महाराज उन्हे बहुत मानने लगे। नित्य उनके लिए सुवर्णके थाल में भोजन जाता और वे खा कर थाल को फेंक देते। सारांश कहने का इतना ही है कि जिन्होंने इस प्रकृति के तत्व को समझ लिया है, उनके लिए जल का सोख लेना अग्नि को शीतल कर देना आदि भाँति-भाँति के व्यापार साधारण कार्य हैं। जो प्राकृतिक पदार्थो से ऊपर उठ गये है, उनके लिये गंगाजी के प्रवाहको रोक देना कौनसी बड़ी बात है।"

के भक्तिवर्धक चरित्र को आप सबके सम्मुख सुनाता हूँ, आप दत्तचित होकर श्रवण करें।

मुनियो! पूर्वकाल में काशी के एक परम धर्मात्मा सदाचारी देवराज नाम के राजा थे। वे बड़े शूरवीर धर्म परायण तथा प्रजावत्सल भूपति थे। उनकी एक परम सुन्दरी, सदाचार-परायणा, सर्वगुणसम्पन्ना सुदेवा नाम की कन्या थी। उस कन्या के अंग प्रत्यंग में एक तिल भी ऐसा स्थान नहीं था जहाँ अपार सौन्दर्य न हो। उसके अंग-प्रत्यंगों की गठन ऐसी मनोहर थी कि बाल्यकाल में ही जो उसे देखता वही उसकी ओर देखता का देखता ही रह जाता। वह राजकुमारी ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसका सौन्दर्य निखरता ही गया। अधिक कहना व्यर्थ है पौराणिकों का कहना है, संसार में उन दिनों उस कुमारी के समान दूसरी सुन्दरी कुमारी नहीं थी। जब वह कन्या विवाह योग्य हो गई, तो उसकी माता ने महाराज से कहा—"पतिदेव! लड़की बड़ी स्यानी हो गई है इसका विवाह किसी योग्य वर के साथ करना चाहिये। महाराज की इच्छा थी, मेरी पुत्री का विवाह संसार में सर्व-श्रेष्ठ वर के साथ हो। उन दिनों वैवस्वत मनु के ज्येष्ठ पुत्र महाराज इक्ष्वाकु राज करते थे। अतः महाराज ने उनके पिता श्राद्धदेव से प्रार्थना की। उस कन्या के रूप और गुणों की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी, अतः महाराज मनु ने सहर्ष इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया और सुदेवा का विवाह महाराज इक्ष्वाकु के साथ हुआ।

महाराज इक्ष्वाकु ऐसी सुन्दरी सती साध्वी पति परायणा पत्नी को पाकर परम प्रसन्न हुए। उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, वे सुदेवा को प्राणों से भी अधिक प्यार करते। उन्होंने

पकार में निरत रहती है, वही पितरो को तारने में समर्थ हो सकती है। वही सच्ची संतान है। तुम्हारे जल के स्पर्श से पापी भी तर जायँगे। ऐसी तरनतारिनी तुम मेरी तनया कहलाओगी, यह मेरे लिये सबसे बढ़कर गौरव की बात है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार गङ्गा महाराज जह्नु को अपना पिता मानकर उनकी परिक्रमा करके आगे बढ़ीं। महाराज जह्नु ने भी उनका सिर सूँघा और आशीर्वाद दिया—"तुम संसार में विश्ववन्दिता कहलाओगी।" इस प्रकार पिता जह्नु से आशीर्वाद पाकर भगवती जाह्नवी आगे बढ़ी।

छप्पय

उतरि हिमालय अंक अवनि पै नीचे आई।
सामग्री मुनि जह्नु यज्ञ की सबहिं बहाई॥
लखि अविनय मुनि कर्यो कोप गंगा पी लीन्हीं।
भूप भागीरथ विनय बहुत विधि मुनि की कीन्हीं॥
छोड़ी गंगा कान तैं, तनया तिनकी ह्वै गईं।
तबई तैं भागीरथी, ख्यात जाह्नवी जग भईं॥

स्थान से तिल भर भी न हटे, वे कोल भील व्याधों और कुत्तों को मारने लगे। बड़ी देर तक भयंकर युद्ध होता रहा। बहुत से सूअर मर गये, बहुत से घायल हुए, बहुत युद्ध छोड़कर अपनी गुहाओं में चले गये, किन्तु वह यूथपति बराह अपनी स्त्री और ५-७ पुत्र-पौत्रों के साथ संग्राम में डटा ही रहा। उसने अपने तीक्ष्ण दाढ़ों के प्रबल प्रहार से बहुत से व्याधों को मार डाला था, बहुतों को क्षतविक्षत बना दिया था बहुत से प्राण लेकर भाग गये।

महाराज इक्ष्वाकु ने जब उस सूकर का ऐसा साहस और तेज देखा तब तो वे विस्मित हुए। अपनी रानी से बोले—"प्रिये! यह सूकर कोई, साधारण सूकर नहीं है, यह तो कोई अत्यन्त अलौकिक सूकर है तुम देखती नहीं हो यह कितनी वीरता के साथ कैसा घनघोर युद्ध कर रहा है। इसने मेरे सभी साथियों को परास्त कर दिया है। अब मुझे इससे युद्ध करना चाहिये।"

यह कहकर महाराज ने धनुष पर बाण चढ़ाया और अपने घोड़े को उस सूअर की ओर बढ़ाया।

उस समय सूकरी ने अपने पति से कहा—'प्राणनाथ! आपके प्रेम के वश में होकर आपके सैकड़ों पुत्र-पौत्रों ने प्राण गँवा दिये। कुछ भागकर बच भी गये, युद्ध में आपकी विजय हुई, अब आप इन इतने बड़े राजर्षि के साथ युद्ध न करें। मेरे साथ भाग चलें और अपने प्राणों को बचावें।"

सूकर ने कहा—"प्रिये! तुम कैसी बात कह रही हो, मैं मृत्यु का ऐसा सुन्दर सुयोग पाकर भी यहाँ से प्राणों के मोह से भला भाग सकता हूँ। मेरे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। यदि मैंने युद्ध में इन विश्व विजयी सम्राट को हरा दिया, तो लोक

के दिखा दो तब मै सेवन करूँगा। तब तो सम्भव है उसका रोग कभी जाय ही नही। रोग जाने के लिये उसे चिकित्सक पर विश्वास करना पड़ेगा। वह जो औषधि दे उसे श्रद्धापूर्वक खाना होगा जैसा पथ्य सेवन को कहे उसे विश्वास पूर्वक सेवन करना होगा। पुत्र माता से आग्रह करे कि पहिले मुझे इस बात को प्रत्यक्ष करा दो कि यही मेरे पिता हैं, तो माँ कैसे प्रत्यक्ष करा सकती है। मैं ही माँ हूँ इसे भी वह तर्क से स्वय कैसे सिद्ध कर सकती है। पुत्र को माता-पिता और गुरुजनों के वचनों पर विश्वास ही करना होगा। जिसे माँ कहने को कहे वह माँ है जिनके माँ पिता कहलावे वे पिता हैं। गुरु अक्षरारंभ करता है। आरम्भ ही बताया है। यह "आ है, यह "इ" है यह 'उ" है। अब लड़का यह तर्क करे कि यही "आ" क्यों है। यह "उ" क्यों नही ? तो गुरु इसे तर्क से कैसे सिद्ध कर सकता है। उस पर एक ही उत्तर है। मैं गुरु परम्परा से यही बात सुनता आया हूँ, कि इसे "आ" कहते हैं। उन आप्त पुरुषों के वचनों पर मुझे विश्वास है तुम्हें भी मेरी बात पर विश्वास करना चाहिये। मैं जिस अक्षर का जो नाम बताऊँगा तुम्हें उसे ही विश्वासपूर्वक मान लेना चाहिये। ऐसे एक नही अनेकों उदाहरण हैं, कि हम बड़े लोगों के विश्वासनीय आप्त पुरुषों के वचनो पर ही विश्वास करके संसार यात्रा मे अग्रसर हो सकते है। यदि पग-पग पर हम तर्क का ही अवलम्ब लेते रहे, तब तो हम एक पग भी नही बढ़ सकते। जो कहते है—"जैसे अन्य जल वैसे ही गङ्गाजल, गङ्गाजल में क्या रखा है। उसके दरस परस और पान से पाप कैसे कट सकते हैं, उसमे भस्म अस्थि डालने से मृतक व्यक्ति का उद्धार कैसे हो सकता है ? "तो इस विषय में यही कहेंगे, कि हमारे

अपने पति को मृतक देखकर सूकरी को बड़ा दुःख हुआ। अब उसके सैकड़ों पुत्र पौत्रों में से ४ । ५ पुत्र ही शेष रहे थे। अतः वह अपने बड़े पुत्र से बोली—"बेटा, तू अपने इन छोटे-तीनों भाइयों को लेकर भाग जा मैं तो तेरे पिता के मार्ग का अनुसरण करूँगी, मैं तो इन धर्मात्मा राजर्षि के बाणों से मर कर स्वर्ग में तेरे पिता के साथ सुख भोगूँगी, तू व्यर्थ प्राणों को क्यों गँवाता है।"

पुत्र ने कहा—"माता जी ! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जो पुत्र माता-पिता को संकट में छोड़कर प्राणों के भय से भाग जाता है, वह माता के रज वीर्य से उत्पन्न न होकर उनके मल मूत्र के समान है मेरे ये भाई भले ही चले जायँ मैं तो अन्त तक युद्ध करूँगा। तब सूकरी ने समझा बुझाकर अपने छोटे तीनों बच्चों को भगा दिया और स्वयं अपने पुत्र के साथ व्याधाओं से युद्ध करने खड़ी हो गई। उसके पुत्र ने सैकड़ों व्याधाओं को घायल किया। बहुतों को मारा। तब महाराज ने एक चन्द्राकार बाण छोड़कर उसका सिर धड़ से पृथक् कर दिया। पुत्र के मरते ही सूअरी मूर्छित सी हो गई और शोक से व्याकुल होकर धड़ाम से अपने सुत के शरीर पर गिर पड़ी। उस सूकरी को इस प्रकार अचेत पड़े देखकर व्याधे उसके ऊपर झपटे, किन्तु उसने अपने थूथुन से ऐसा प्रहार किया, कि बहुत से व्याधों को मार भगाया, वह क्रुद्धा सिंहनी के समान समर कर रही थी। क्रोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला में जलती हुई वह सूकरी सैकड़ों पुरुषों का संहार करने लगी। राजा चुपचाप खड़े इस दृश्य को देख रहे थे।

इस पर महारानी सुदेवा ने कहा—"प्राणनाथ ! इस सूकरी का साहस तो अलौकिक है, इसकी रणचातुरी तो बड़ा विलक्षण

चिपट जाओ। दोनों बहिन हृदय से हृदय सटाकर मिल लें। भर पेट प्रेम के अश्रु बहालें।"

गंगा ने विवशता के स्वर में कहा—"बहिन! देखो,मैं तुमसे डरती हूँ, तुम समस्त सरिताओं में सर्व श्रेष्ठ हो, तुम समुद्रगा सहित हो, तुमने पति के साथ संगम किया है, मैंने अभी अपने पति समुद्र के दर्शन तक नहीं किये। जहाँ मैं तुम से छाती से छाती सटाकर मिली, तहाँ मेरा अस्तित्व ही विलीन हो जायगा। मुझे फिर कौन पूछेगा। आगे तो तुम्हारा ही नाम होगा। इसलिये मैं तुम से डरती हूँ। मिलने में हिचकती हूँ,दूर से ही राम-राम करके मैं अपना मार्ग पकड़ती हूँ। तुम उधर जाओ मैं इधर से मुड़कर जाती हूँ।"

यह सुनकर यमुना उसी प्रकार हँस पड़ी जैसे बड़ी बहन छोटी बहिन की तोतली वाणी सुनकर हँस पड़ती है। यमुना बोली—"अरे, गंगे! तू इतनी बड़ी होगई, फिर भी तेरा भोलापन नहीं गया। भला यह कैसे हो सकता है, बहिन बहिन से मिले और दूर से ही नमस्कार करके चली जाय जब तक हृदय से हृदय नहीं सटता वह मिलन नहीं विडम्बना है। जब तक दो अंग एकीभूत नहीं होते, तब तक सरसता की धारा कैसे बह सकती है। पगली कहीं की। नाम की क्या बात है। बड़े तो हृदय से चाहा ही करते है छोटों का नाम हो। छोटे जब बड़े हो जाते हैं, तो बड़े लोग अवकाश ग्रहण करके अपने कार्य क्षेत्र से हट जाते हैं। तू सर्व समर्थ है, महान् शक्ति शालिनी है। आ मेरे हृदय से लगजा। तुझे मैं अपने में नहीं मिलाऊँगी, मैं ही तुझ मे मिल जाऊँगी। अब आगे मेरा नाम न होकर तेरा ही नाम रहेगा।"

से व्यथित होकर बुरी तरह तड़पने लगी, तो रानी को बड़ी दया आई। वे तुरन्त रथ पर से उतर पड़ी और शीघ्रतापूर्वक हाथ में जल की भारी लिये तुरन्त सूकरी के समीप पहुँच गई। बहुत सी सेविकायें भी महारानी के समीप गई। महाराज को भय था, यह क्रुद्ध सूकरी कहीं रानी पर प्रहार न कर बैठे, किन्तु उन्होंने रानी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया। किसी की दयावृत्ति को दबाना-शुभ कर्म से हटाना-बड़ा पाप है, महाराज धनुष ताने बड़ी सावधानी से रानी और सूकरी के कार्यों का निरीक्षण करते रहे।

रानी ने सूकरी के समीप पहुँचकर शीतल जल से उसके शरीर पर शनैः शनैः अभिसिंचन किया। उसके मुख को धोया, अंगों पर हाथ फेरा। सती साध्वी पतिव्रता के अङ्ग स्पर्श से सूकरी को चेत हुआ। आँख उठाकर उसने रानी की ओर देखा। तब तो वह अत्यन्त मधुर शुद्ध संस्कृत मानुषी भाषा में रानी से कहने लगी—"देवि! भगवान् आपका भला करें आप जुग जुग जीवें। आपका सुहाग सदा बना रहे। हे निष्पापे! तुमने मेरे ऊपर जल छिड़ककर मेरा स्पर्श करके बड़ा उपकार किया।"

सूकरी के मुख से शुद्ध संस्कृतमय मानुषी वाणी सुनकर रानी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने शीघ्रता के साथ अपने पति से कहा—"प्राणनाथ! प्राणनाथ! देखिये, यह कैसे आश्चर्य की बात है। यह सूकरी शुद्ध संस्कृत भाषा में बातें कर रही है।"

रानी को अत्यन्त कुतूहलयुक्त निरखकर महाराज इक्ष्वाकु उस सूकरी के निकट गये। जब राजा भी वहाँ आ गये तो रानी अत्यन्त स्नेह के साथ बोलीं—"बहिन! तुम कौन हो? तुमने

गङ्गा ने आग्रह पूर्वक कहा—"देखो बहिन! प्रथम मिलने में सङ्कोच होता है, कोई हाथ पकड कर उनके द्वार तक पहुँचादे। तुम दोनों बहिन मेरे साथ चलो।"

यमुना बोली—"तू तो है पगली! देख, भोजन, भजन और सङ्गम सदा एकान्त में होता है, दूसरे के रहने में निरसता होती है। चल तुझे वास तक हम दोनों पहुँचाये देती है, फिर हम अलग जाकर सङ्गम करेंगी, तू अलग जाकर सङ्गम करना। सौत-सौत साथ साथ जा कर पति से नहीं मिलती. तू अभी इन बातों को क्या जाने।"

सरस्वती यमुना की सिख सुनकर हँस पडी और बोली—"बहिन अभी यह गङ्गा बच्ची है सीखते सीखते सीखेगी। तो भरि भरि कुन्ना पीसेगी। अभी तो इसे चक्की चलाना भी नहीं आता।

तीनों ने कहा—"अच्छा चलो, किन्तु आगे तीनों धाराओं का नाम तेरे ही नाम गङ्गा रहेगा।"

गङ्गा की तो यह इच्छा ही थी। भगीरथ ने रथ हाँक दिया। गङ्गा वाराणसी की ओर बढ़ी। चम्पारण्य आदि देशों को पवित्र करती हुई वे समुद्र के समीप पहुँची। यमुना ने दूर से ही उँगली के संकेत से बताया—"देख वही हम सब सरिताओ के पति समुद्र का निकेतन है। वही तेरा उनके साथ सङ्गम होगा। अच्छा राम राम हम अब दूसरे मार्ग से जायेंगी।"

गङ्गा का हृदय प्राणनाथ के दर्शनों से बाँसों उछल रहा था, वह ऊपर के मन से बोलीं—"मुझे अकेली छोड़कर तुम दोनो कहाँ जाती हो। मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगी।"

डाले उनके सम्मुख चली जाती, तो भी वे कुछ नहीं कहते मैं युवकों के साथ खुल कर बातें करती, हंसती खेलती, तो भी पिता जी उसकी उपेक्षा कर देते। वे मुझे भोली बच्ची ही समझकर प्यार करते थे। किन्तु मै पूर्ण युवती हो चली थी। लाड प्यार में पलने के कारण यौवन मेरे अङ्ग-अङ्ग से फूटकर निकल रहा था। मेरे भोले पिता इधर ध्यान ही नहीं देते थे। एक दिन मैने किवाड़ की आड में से सुना कि मेरी माँ मेरे पिता से अत्यन्त ही दुःख और चिन्ता के स्वर में कह रही हैं—"प्राणनाथ! देखिये सुदेवा कितनी बड़ी हो गई है। इतनी बड़ी कुमारी कन्या पिता के घर में रहे, यह बड़े कलंक की बात है, आप इधर ध्यान ही नहीं देते। सुदेवा स्वच्छन्द भी होता चली जा रही है। अब तक इसका कब का विवाह हो जाना चाहिए था किन्तु आपको इसके विवाह की कोई चिन्ता ही नहीं।"

मेरे पिता ने कहा—"देवि! तुम सत्य कहती हो सुदेवा अब अवश्य विवाह योग्य हो गई है, किन्तु मेरी वह इतनी प्यारी पुत्री है कि मैं उसे पल भर भी अपनी आँखों से ओझल नहीं करना चाहता। यदि मुझे कोई ऐसा वर मिल जाय जो घर जमाई बनकर मेरे ही यहाँ रहे, तो मै उसके साथ सुदेवा का विवाह कर सकता हूँ।"

सूकरी, रानी सुदेवा से कह रही है—"देवि! ऐसा वर कोई मिला नहीं। मेरी अवस्था बहुत बड़ी हो गई। मेरी चढ़ती अवस्था थी। सौन्दर्य का मद मेरे रोम-रोम में व्याप्त हो गया था। जब मैने बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में पदार्पण किया तो मेरे हाव-भाव कटाक्ष तथा मंद मुस्कान में इतनी मोहकता बढ़ गई कि मैं अपने को सम्हाल न सकी। उसी समय एक बड़े सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण कुमार गुरुकुल से अध्ययन

सगर के साठ सहस्र पुत्र भूमि खोद कर जिस मार्ग से कपिलाश्रम में गये थे, उसी मार्ग से गङ्गाजी घुस गईं। वहाँ जाकर उन्होंने भस्म हुए साठ सहस्र सगर सुतों की राख को अपने पावन पय में डुबा दिया। गङ्गाजल का स्पर्श होते ही यम यात्रा भोगते हुए सगर सुत तुरन्त ही विमानों पर चढ़-चढ़ कर सीधे स्वर्ग को चले गये। देवताओं ने सुमनों की वृष्टि की गन्धर्व गाने लगे—अप्सरायें नृत्य करने लगीं। बोल दे, गङ्गा मैया की जय, बोल दे गङ्गाजी की जय। "श्री राधे, श्री राधे।"

गङ्गाजी की कथा सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने गङ्गाजी का अत्यधिक महात्म्य कह दिया। भस्म के स्पर्श से सहस्रों वर्षों से नरक में पड़े जीव तुरन्त तर जायँ, यह तो विचित्र बात है।"

सूतजी बोले—"अजी महाराज! इसमें विचित्र बात क्या है। १०० योजन से भी जो केवल गङ्गाजी का नाम लेता है—'गङ्गा' इन दो शब्दों का उच्चारण करता है, वह भी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है, फिर जिनके शरीर के अस्थि को भस्म का गङ्गाजल से स्पर्श हो जाय,तो उनका कहना ही क्या? एक दिन कोई राजा त्रिवेणी जी में स्नान करने आये। उनके साथ उनकी बहुत सी रानियाँ थीं। ज्यों ही उन्होंने गगा में स्नान किया त्यों ही सहस्रों मृग विमानों पर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे रानियों ने पुरोहित से पूछा—"स्नान तो हमने किया है और ये मृग क्यों जा रहे है।"

पुरोहितने कहा—"आप लोगोने जो अपने कुचोंमें कुन्कुम मिश्रित कस्तूरी लगा रखी थी, उस कस्तूरी का गंगाजल से

वे इतने शांत, सरल तथा निर्मलतर थे कि मैं चाहे जो करती वे कुछ न कहते। रोते-रोते सूकरी बोली—"रानी जी! मैं घन के घमंड में विवेकहीन हो गई। उसी समय एक ऐसी घटना हो गई, कि इससे मेरा रहा सहा शील-संकोच भी नष्ट हो गया। कुछ चरित्रहीना युवतियों से मेरा संसर्ग हो गया। उन्होंने भी मुझे अपने जैसा बना लिया। यह कामाग्नि ऐसी ज्वाला है कि इसमें जितना भी ईंधन डालते जाओ उतनी ही अधिक प्रज्वलित होती जाती है। अब मैं माता-पिता-पति किसी का भी शील-सङ्कोच न करती। पति की मैंने कभी सेवा नहीं की, उलटे उन्हें ही खरी-खोटी सुनाती रहती। मैं स्वच्छन्दता पूर्वक जहाँ-तहाँ घूमती था। किसी का भी पुण्य-पाप जितना गुप्त रीति से किया गया हो, छिपता नहीं है, प्रकट हो ही जाता है। इसी नियमानुसार मेरा पाप भी सब पर विदित था। सब जानते थे। फिर मेरे पिता के शील, सदाचार तथा कुलीनता के संकोच-वश कोई कुछ सामने कहते नहीं थे।

जब मेरे वेदज्ञ सदाचारी पति ने मेरे ऐसे दुष्कर्म देखे, तब वे एक दिन रात्रि में ही उठकर हमारे यहाँ से चले गये। इस घटना से मेरे पिता को बड़ा दुःख हुआ। मेरे पिता को दुखी देखकर मेरी माता ने कहा—"प्राणनाथ! अब दुःख करने से क्या होता है, यह सब आपका ही अपराध है, आपने लड़की को इतना सिर चढ़ा लिया था कि वह स्वच्छन्द हो गई। उसने अपने कुल में कलंक लगा दिया। हमारी सम्पूर्ण कीर्ति का नाश कर दिया। हम किसी को मुख दिखाने योग्य नहीं रहे। अब यह भ्रूण हत्यायें करती है। जहाँ तहाँ स्वच्छन्द होकर विचरती है। घर की वस्तुओं को चुरा ले जाती है आपने इसे कभी डाँटा-डपटा नहीं। इसके पति शिवशर्मा जब घर में रहते थे, तब भी आपने इसे

सगर पुत्रों ने जो जम्बूद्वीप के चारों ओर की पृथिवी खोद डाली थी, उसे गंगाजी ने भर दिया और समुद्र से मिला दिया। इसी लिये समुद्र को सागर कहने की प्रथा चल पड़ी। गङ्गाजीके लाने का महान् यश दिलीप पुत्र महाराज भगीरथ को प्राप्त हुआ। इसी लिये गङ्गाजी भागीरथी कहाईं। गङ्गावतरण की कथा के अनन्तर अब आप लोग और क्या कहने के लिये मुझे आज्ञा देते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपने इक्ष्वाकुवंश का वर्णन करते २ स्वायम्भुव मनुसे लेकर महाराज भगीरथ तक के राजाओं की कथा सुनाई। अब आगे के राजाओं की कथा और सुनाइये। इक्ष्वाकुवंश में भगीरथ के अनन्तर जो प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नरपति हो गये हैं, उनमें से विशिष्ट विशिष्ट राजाओं के शिक्षाप्रद मनोहर चरित्रों को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है। क्योंकि इसी वंश में नराकृति भगवान् कौशलेन्द्र श्री राम ने अवतार धारण किया है। महाराज भगीरथ के पुत्र कौन हुए और आगे का वश कहाँ तक चला। क्योंकि पुण्य श्लोक भूपतियों के चरित्रश्रवण मात्र से ही परम पुण्य की प्राप्ति होती है।"

यह सुन कर सूतजी बोले—"मुनियों! मैं इक्ष्वाकु वंश के महाराज भगीरथ से आगे के राजाओं का वर्णन करता हूँ, आप उसे सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

गंगा गंगा कहें नित्य गंगाजल पीवें।
सदा बसें तट निकट गंग जलतें ई जीवें॥
गंगा रज तन लाइ नहावें गंगा जलमहँ।
बसें गंग पय परसि अनिल बिहरै जिहि थलमहँ॥
श्रीगंगा के नाम तें कोटि जन्म पातक नसहिं।
भोगें भूपं भोग बहु, अन्त जाहि सुरपुर बसहिं॥

हत्यारी, कोई पापिनि और कोई पुत्र घातिनी बताता इस प्रकार जिस किसी प्रकार भीख माँगती हुई घूमती-फिरती मैं गुर्जर प्रदेश में पहुँच गई। जहाँ भगवान् सोमेश्वर का सुन्दर सुवर्णमय मंदिर था। उस प्रभासक्षेत्र में भूख की ज्वाला से संतप्त होकर मैं इधर-उधर भीख माँगती फिरती थी कि उसी समय मैंने एक वेदज्ञ ब्राह्मण का घर देखा। उनकी एक परम सुन्दरी पतिप्राणा पतिव्रता पत्नी थी, जो उनकी प्रत्येक आज्ञा का बड़ी नम्रता के साथ पालन करती थी। मैंने वहाँ जाकर बड़ी दीनता से भिक्षा माँगी मेरी वाणी को सुनकर उन ब्राह्मण ने मुझे देखा और अपनी पत्नी को बुलाकर कहा—"देखो, यह जो दुबली-पतली स्त्री खड़ी है, इसे बड़े सत्कार से बुलाकर भोजन कराओ और इसके रहने का प्रबन्ध करो।"

उस स्त्री ने पूछा—"प्राणनाथ! यह कौन है, इसका मुझे परिचय दीजिये।"

वे ब्राह्मण बोले—"देवि! यह मेरी पूर्व पत्नी है। इसका नाम सुदेवा है, इसके पिता कलिङ्ग देश के बड़े प्रसिद्ध धर्मात्मा ब्राह्मण हैं। उनका नाम वसुदत्त है। भाग्यवश यह भीख माँगती है।"

मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। हाय! ये तो मेरे वे ही पतिदेव हैं, जिसका मैंने कभी सत्कार नहीं किया था। सदा इनका अपमान ही करती रही। फिर भी ये मुझसे घृणा नहीं करते मुझे पत्नी की भाँति पुनः अपने घर में रखने को तत्पर हैं।

उस सती साध्वी पतिव्रता ने कहा—"प्राणनाथ! यह तो मेरे लिये अत्यंत ही प्रसन्नता की बात है। तो मेरी बड़ी बहिन हैं। मैं इनकी सदा सेवा करूँगी और हम दोनों मिलकर आपको

स्वजन विजन बन जाते है, ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती है, सब धन देने से घट जाता है, किन्तु विद्या धन ऐसा धन है, जो देने से बढ़ता है। विद्या प्राप्त करने के तीन ही उपाय बताये हैं। प्रथम तो विद्या गुरु सुश्रुषा से प्राप्त होती है,गुरु की सेवा करके जो विद्या मिलती है वह फलवती और सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। दूसरा विद्या प्राप्त करने का उपाय यह है कि गुरु को यथेष्ट विपुल धन दे दे। इतना पर्याप्त धन दे कि जिससे उनकी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण हो जायँ, यह शारीरिक सेवा न होकर धन द्वारा सेवा है। एक तीसरा विद्या प्राप्ति करने का यह भी उपाय है, कि तुम हमें एक विद्या दो उसके परिवर्तन मे हम तुम्हें दूसरी विद्या सिखावें। इस प्रकार आदान प्रदान से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है। इन तीनों के अतिरिक्त विद्या प्राप्त करने का कोई साधन नही। छल से प्राप्त की हुई विद्या सफल नही होती।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं– "राजन्! आपने मुझसे महाराज भगीरथ के आगे के इक्ष्वाकुवंशों के राजाओं का वृत्तांत पूछा। दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ ने गङ्गाजी के लाने के कारण विश्व में बड़ी ख्याति प्राप्त की उन्हीं के नाम से गङ्गाजी अभी तक भगीरथी कहलाती है। उन्हीं पुण्यश्लोक राजर्षि भगीरथ के पुत्र श्रुत हुए, जो पिता के ही समान पराक्रमी थे। श्रुत के पुत्र नाभ हुए। नाभ के पुत्र सिन्धुद्वीप हुए। इन सिन्धुद्वीप के सुत अयुतायु हुए जो दीर्घ जीवी और धर्मात्मा थे। इन्हीं अयुतायु के पुत्र परम तेजस्वी विश्व विख्यात महाराज ऋतुपर्ण हुए ये द्यूत विद्या में इतने निपुण थे कि इनसे कोई द्यूत में

कितने सदाचारी युवकों का जीवन नष्ट किया कितनों के साथ विश्वास घात किया। कितनी कन्याओं को मैंने दूषित कराया। हाय ! मुझसे कोई भी पाप और दुराचार ना नहीं छूटा था। मैंने विश्वास कराकर युवकों की हत्यायें कराईं। धन के लोभ से धनिकों को विष पिलाया। इन्हीं सब पापों के कारण मुझे नाना नरकों में जा जाकर असह्य वेदनायें सहन करनी पड़ीं। अनेकों वर्षों तक नरकयातना सहने के अनन्तर मुझे यह लोक विनिन्दित सूकरी योनि प्राप्त हुई। मेरा यही एक पुण्य था कि पतिव्रता स्त्री ने मुझे अपने हाथ से स्नान कराया था, उसने मेरी चोटी गूँथी थी और अपने हाथ से मेरे मुख में ग्रास दिया था। मरते समय मैं अपने पति का प्रेम पूर्वक मुख देखती हुई मरी थी। इसी पुण्य के प्रभाव से मुझे इस सूकरी योनि में ऐसे धर्मात्मा शूरवीर पति प्राप्त हुए जो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे।

यह सुन कर सूकरी बोली—"देवी ! तुम्हारे स्पर्श के प्रभाव से सभी कुछ जानती हूँ मुझे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान है। ये मेरे पति पूर्व काल में रङ्गविद्याधर नामक बड़े ही संगीत कुशल थे। एक बार ये सुमेरु पर्वत की सुन्दर कन्दराओं के समीप बड़े ही ताल स्वर के सहित गा रहे थे। वहाँ महर्मुनि पुलस्य जी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने आकर इनसे कहा—"हे गन्धर्व श्रेष्ठ ! तुम कहीं अन्यत्र जाकर गीत गाओ। तुम्हारे सुन्दर सुरेले चित्ताकर्षक सगीत को सुनकर मेरी समाधि भङ्ग हो जाती है। शास्त्रकारों ने कहा है कि मुनियों को ऐसे स्थान से दूर रहकर तपस्या करनी चाहिये जहाँ संगीत हो, एकाकी सुन्दर रमणी हो तथा चित्ताकर्षक शृंगार के और सामान हों।"

बात यह थी कि विदर्भराज भीम के कोई सन्तान नही थी, इसलिये वे रानी के सहित बड़े दुखी रहते थे। एक दिन दमन नामक महर्षि ने आकर राजा का आतिथ्य ग्रहण किया। राजा ने अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति सहित मुनि की सेवा की। राजन की सेवा से सन्तुष्ट हुए मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ। किस कार्य से आपकी चिन्ता दूर हो सकती है ?"

राजा ने कहा--"ब्रह्मन् ! आप सर्वज्ञ है,सबके बाहर भीतर की बात जानते है, फिर भी आप मुझसे पूछते ही है, तो मै कहता हूँ। मेरे यहाँ कोई सन्तान नहीं है। आप कृपा करके मुझे कोई सन्तान दें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुनि बोले-"राजन् ! तुम्हारे एक ऐसी त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या होगी, जिसकी बराबरी मृत्यु लोक में तो क्या तीनों लोक की कोई ललना नही कर सकती। उसके अतिरिक्त तुम्हारे तीन पुत्र भी होगे।"

एक साथ चार सन्तानों का वरदान पाकर राजा परम प्रमुदित हुए और बोले—"ब्रह्मन् ! मै आपके अनुग्रह का अत्यन्त ही आभारी हूँ। इस प्रकार राजा के द्वारा सत्कृत होकर दमन मुनि चले गये। कालान्तर में राजा से सर्व लक्षण लक्षणा, संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई। राजा ने दमन मुनि की स्मृति में उस कन्या का नाम दमयन्ती रखा। इसके अनंतर उनके तीन पुत्र भी हुए जिनके नाम दमदान्त और दमन, रखे।

दमयन्ती कुसुम की कलिका के समान शुक्ल पक्ष के चंद्र की

व्रत पुण्य का मेरे निमित्त दान कर दें तो मेरा समस्त पापों से उद्धार हो जाय। क्या आप मेरे ऊपर इतनी कृपा करेंगी।"

सूकरी के मुख से ऐसी बात सुनकर रानी ने अपने पति महाराज इक्ष्वाकु से सम्मति लेकर उस सूकरी के निमित्त एक वर्ष के पातिव्रत पुण्य का संकल्प किया। रानी ने ज्यों ही संकल्प का जल सूकरी के ऊपर छोड़ा त्यों ही वह दिव्य रूप रखकर दिव्य विमान पर चढ़कर रानी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हुई, अपने पति के समीप वैकुण्ठ धाम को चली गई। रानी को उसका भाँति-भाँति के रत्न-आभूषण से युक्त दिव्य रूप देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा के साथ वे लौटकर अपने पुर में आई।

कालान्तर में महाराज के वीर्य से महारानी ने १०० पुत्रों को उत्पन्न किया। वे सबके सब धर्मात्मा शूरवीर तेजस्वी और माता-पिता के भक्त थे। उन सबमें विकुक्षि बड़े थे। वे राज्य के अधिकारी थे। शशक के खा लेने से उनका नाम शशाद भी पड़ गया था। पिता के पश्चात् शशाद ही इस सप्तद्वीपा वसुन्धरा के राजा हुए।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र का नाम शशाद क्यों पड़ा, उन्होंने शशक को क्यों खाया? यदि उचित समझें तो इस कथा को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—'मुनियो! जिस प्रकार महाराज विकुक्षि का नाम शशाद पड़ा, उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

को छोड़ते हुए कहा—"हे मराल! यदि तुम मेरा यह प्रिय कार्य करदो, तो मैं तुम्हारी चोंच सुवर्ण से मढ़वा दूंगा, नित्य ही तुम्हें घर बैठे दूध भात पहुँचा दिया करूँगा। तुम मुझे दमयन्ती से मिला दो।" राजा की ऐसी अधीरता देखकर हंस उड़ा और दमयन्ती की पुष्प वाटिका में जा बैठा।

जब सखी सहेलियों से घिरी दमयन्ती वायुसेवनार्थ पुष्प वाटिका में आई, तो वहाँ उसने एक विचित्र अलौकिक हंस को देखा। राजकुमारी ने स्वयं दौड़ कर पकड़ लिया। उसने देखा हंस के कण्ठ में एक पत्र बँधा है। कुमारी ने कुतूहलवश पत्र खोल दिया। जब उसने पत्र पढा तो उसमें नल का नाम था पत्र पढ़ते ही राजकुमारी मूर्छित हो गई। तब हंस ने मानवीय भाषा में कहा—"देवि! तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हें महाराज नल से मिलाऊँगा। जैसा अनुराग तुम्हारा उनके प्रति है, उससे भी अधिक अनुराग उनका तुम्हारे प्रति है।"

लजाते हुए दमयन्ती ने कहा—"तुम मेरा सन्देश उनसे जाकर कहो। मैं उनके बिना अन्य किसी पुरुष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती।"

हंस ने राजा से आकर सब समाचार कह दिया। अब राजा रात्रि दिन दमयन्ती के ही विषय में सोचते रहते थे।" कस्तूरी और प्रीति छिपाने से नहीं छिपती, सखियों द्वारा रानी को और रानी द्वारा राजा को यह समाचार मिला। महाराज भीम ने तुरन्त ही दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारियां की देश-देश के राजा दमयन्तीके रूपकी ख्याति सुनकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा से विदर्भ देश में आने लगे। राजा ने सभी का समुचित स्वागत सत्कार किया। महाराज नल भी दमयन्ती के प्रेम से चुम्बक

इक्ष्वाकु पुत्र शशाद चरित्र

[६२३]

पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम् ।
शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

पृथिवीपति इक्ष्वाकु तनय शत शूर भये अति ।
सब तैं बड़े शशाद विकुक्षी भये भूमिपति ॥
पिता श्राद्धहित मेध्य जन्तु पठये लैवेकूँ ।
लाये बहु मृग मारि पिंड पितरनि देवेकूँ ॥
मग महँ खायो शशक इक, सुनि नृप क्रोधित है गये ।
देशनिकास्यो दयो पितु, ते शशाद नरपति भये ॥

प्राचीन काल का ऐसा सदाचार है कि किसी को उच्छिष्ट वस्तु देना बहुत बड़ा पाप है । साथ-साथ खाने से तत्काल दूसरों के गुण दोष अपने में आ जाते हैं । बहुत सी छूत की बिमारियाँ होती हैं, जो संसर्ग दोष से ही फैल जाती हैं. साथ बैठकर

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पिता इक्ष्वाकु के देहावसान हो जाने पर विकुक्षि पुनः अपने देश को लौट आये । और इस पृथ्वी का शासन करने लगे । अनेक यज्ञों द्वारा श्रीहरि का उन्होंने भजन किया और शशाद इस नाम से विख्यात हुए ।"

दमयन्ती ने कहा–'देवि ! मैं निलंज्ज होकर यह कहती हूँ, कि मेरे हृदय पर तो निपाद नरेश ने अपना अधिकार जमा लिया है। हे वीर ! मैं तुम्हें छोड़ विष्णु को भी वरण नहीं कर सकती। हृदय तो एक होता है, वह तो महाराज नल के हाथो बिक गया। अब मेरे पास लोकपालों के लिए कुछ नहीं है। आप मेरा सन्देश लोकपालों से कह दें, वे भी स्वयम्वर में आवें सबके सम्मुख मैं आपको वरण करूँगी।''

अपने ऊपर दमयन्ती का ऐसा अनुपम अनुराग निहारकर राजा के रोम-रोम खिल उठे उन्होंने लोकपालों से सब वृत्तान्त जाकर कह दिया। लोकपाल भी स्वयवर सभा में पहुँचे। महाराज नल भी पहुँचे। विदर्भराज ने सबका स्वागत सत्कार किया। नियत तिथि को सभी देशों के राजा और राजकुमार सजधजकर स्वयम्वर सभा में बैठे। उसी समय नूपुरों को बजाती सबके मन को लुभाती, हृदय को हुलसाती, राजकुमारी दमयन्ती सीधी सभा में आई और आते ही महाराज नल के कंठ में जयमाला पहिनाकर नीचा सिर करके खड़ी हो गई।

सभी के मुख फक पड गये। दमयन्ती को पाकर नल परम प्रसन्न हुये। देवताओं ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया। इन्द्र ने कहा—"तुम अपने यज्ञों में देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करोगे और उत्तम गति को प्राप्त करोगे।"

अग्नि ने कहा—"तुम जहां चाहोगे, वही मै तुरन्त प्रकट हो जाऊँगा और अन्त समय में तुम्हे मेरे समान प्रकाशवान् तेजस्वी लोकों की प्राप्ति होगी।"

धर्मराज ने कहा–"तुम्हारे हाथ के बनाये सभी भोज्य

पूर्व ही उसमें से पृथक् निकालकर किसी को दे दिया, तो वह सब उच्छिष्ट हो गया। उसे देवता ग्रहण न करेंगे। इसीलिये आर्य संस्कृति में देह दोष, भावदोष तथा दृष्टिदोष की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! आपने विकुक्षि के शशाद नाम पड़ने का कारण पूछा था, उसे मैं उसी प्रकार आपको सुनाऊँगा, जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने गंगा तट पर महाराज परीक्षित को सुनाया था।"

श्रीशुक बोले—"राजन्! इक्ष्वाकु के सबसे बड़े पुत्र विकुक्षि हुए उनसे छोटे निमि हुए जिनके वंशज मिथिला के राजा बने। उनके छोटे दण्डक हुए जो शुक्राचार्य के शाप से भस्म हो गये। इन सबके चरित्र मैं पीछे सुनाऊँगा। ये तीनों इक्ष्वाकु पुत्र आर्यावर्त की परम पावन भूमि के राजा हुए। शेष जो ९७ बचे उनमें से २५ तो पूर्व के देशों के राजा हुए। २५ पश्चिमीय भाग के और ४७ दक्षिणादि अन्य देशों के अधिपति हुए। अब आप सर्व प्रथम ज्येष्ठ विकुक्षि के शशाद नाम होने का कारण सुनिए।

एक बार महाराज इक्ष्वाकु ने अष्टका श्राद्ध के समय अपने बड़े पुत्र विकुक्षि को बुलाकर कहा—"बेटा! देखो आज मुझे अष्टका श्राद्ध करना है तुम वन में जाओ और श्राद्धयोग्य मेध्य-पवित्र मृगों को मारकर श्राद्ध के निमित्त ले आओ। उनसे मैं श्राद्ध करूँगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्मात्मा राजा इक्ष्वाकु ने श्राद्ध में मांस का प्रयोग क्यों करना चाहा? पितर गण तो जैसे मुनि अन्न से-फलाहार से-तृप्त होते हैं वैसे किसी वस्तु से तृप्त नहीं होते। फिर राजा ने फलाहारी वस्तुओं से पितरों का अष्टका श्राद्ध क्यों नहीं किया।"

इस पर कलि को क्रोध आ गया। उसने कहा—"अच्छी वात है दमयन्ती को और उसके पति नल को देख लूँगा।" यह कहकर वह सूक्ष्म रूप से राजा के शरीर में घुसने का अवसर देखने लगा। एक दिन महाराज नल शीघ्रता में लघुशंका गये, लघुशंका जाकर उन्होने आचमन तो किया, किन्तु पैर नही धोये। कलियुग तो सदा अशुद्धि में बसता है, उसे ही सुअवसर पाकर कलियुग राजा के शरीर में प्रवेश कर गया। जब कलियुग शरीर मे घुस जाता है, तो प्राणी अधर्म को ही धर्म समझने लगता है। उसे सदाचार ढोंग प्रतीत होता है, सत् असत् का विवेक नष्ट हो जाता है, वह परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है। कलियुग के प्रवेश करते ही राजा के शरीर में हठ ने प्रवेश किया। राजा का छोटा भाई पुष्कर आया और उसने इनसे जुआ खेलने का आग्रह किया। राजा ने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया। जब यह बात प्रजा के लोगों को मालूम हुई, तब वे सब मिलकर राजा के पास गये और उनसे प्रार्थना की—"महाराज! जुए का व्यसन अच्छा नहीं होता, इसके कारण वहुत से लोग निर्धन और गृह विहीन हो गये है, आप सबके स्वामी हैं, आपको इस निन्दित कर्म को कभी भी न करना चाहिए।" राजा ने प्रजा के लोगों की बातें अनसुनी कर दीं और वे पुष्कर के साथ जुआ खेलने लगे। कलियुग के भाई द्वापर ने जुए के पासों मे प्रवे। करके पुष्कर का पक्ष लिया। अब जो भी दाव पड़ता उसमें पुष्कर की जीत :होती, नल की हार होती। महारानी दमयन्ती ने जब सुना कि मेरे पति जुए में व्यस्त है, तो उसने मन्त्री, पुरोहित, पुरजन तथा सभी सम्बन्धियों को बुलवा बुलवा कर सब राजा को भाँति-भाँति से जुए के अवगुण कहलाये, स्वयं भी उसने धात्री के द्वारा राजा को अन्तःपुर में बुलवाया किन्तु राजा ज्यों-ज्यों हारते त्यों-त्यों वे और भी जुए में लिप्त

इस पर गुरु वशिष्ठ ने कहा—' राजन् ! यह वस्तु श्राद्ध के अयोग्य है, उच्छिष्ट है।"

इक्ष्वाकु ने कहा – "महाराज ! इसे तो अभी विकुक्षि वन से लेकर चला आ रहा है। आप इसे उच्छिष्ट क्यों बता रहे हैं ?"

इस पर वशिष्ठ जी बोले—"महाराज ! मैं सत्य कह रहा हूँ, यदि आप को मेरी बात पर विश्वास नही तो इस विकुक्षि से ही पूछिये ।"

राजा ने पूछा—' कुमार ! तुम सत्य-सत्य कहो क्या बात है ?"

तब विकुक्षि ने कहा—' पिताजी ! मैं घोड़े पर दौड़ते-दौड़ते अत्यन्त श्रान्त हो गया था। लौटते समय मुझे अत्यन्त भूख लगी, मैं इस नियम को तो भूल गया, कि श्राद्ध के निमित्त मारे हुए पशुओं में से श्राद्ध के पूर्व न खाना चाहिये। भूख के कारण एक शशक को मैंने भक्षण कर लिया।"

श्रीशुक कह रहे है—"राजन् ! एक तो बड़ी देर तक प्रतीक्षा करते-करते राजा झुंझला गये थे, दूसरे श्राद्ध को देर हो गई थी, तीसरे उन्हें भी अत्यन्त भूख लग रही थी। गुरु भी पुत्र के इस व्यवहार से दुखी थे। अतः राजा को विकुक्षि पर क्रोध आ गया। उन्होने क्रोध में भर कर कहा—"अरे, मूर्ख ! तैंने यह धर्म विरुद्ध शास्त्र विरुद्ध कार्य किया है, अतः तू मेरे राज्य में रहने योग्य नहीं शीघ्र ही तू मेरे राज्य को छोड़कर वन में चला जा।

एक तो महाराज पिता थे, दूसरे राजा थे, अतः उनकी आज्ञा का पालन करना विकुक्षि ने अपना परम धर्म समझा। वे बिना पिता को कुछ उत्तर दिये राजधानी को छोड़कर वन में चले गये।

भ्रष्ट राजा पर इतना अनुराग करती है। वह मुझ में अनुराग कैसे करेगी। अतः उसने घोषणा कर दी, कि जो भी पुरुष मेरे राज्य में नल के प्रति सहानुभूति दिखावेगा, उनका स्वागत सत्कार करेगा, उन्हें अपने घरों में ठहरावेगा, उसे कड़े से कड़ा दंड दिया जायगा।"

इस राजाज्ञा के उद्घोषित होते ही सभी डर गये। भयवश कोई भी महाराज नल के निकट नही आये। राज कर्मचारियो ने अस्त्र-शस्त्रों से जाती हुई भीड़ को तितिर-बितिर कर दिया। महाराज रानी को साथ लिये अकेले ही नगर से बाहर निकले।

राजा को पैदल चलने का अभ्यास नहीं था। रानी भी अत्यन्त सुकुमारी थीं दोनों ही नंगे पैरो जा रहे थे। प्रातःकाल ही वे नगर से बाहर हुए थे। चलते चलते उनके पैरों मे छाले पड़ गये। रानी के अरुण कमल के दलो के समान सुकुमार पैरों से रक्त बहने लगा। उनका मुख कमल राज भवन रूपी पुष्करिणी से बाहर आने से मुरझा गया था। प्यास के कारण उनके ओठ सूख गये थे। ओठों पर पपड़ी जम गई थी। धूल से उनके काली काली अलकावली तथा पलकें धूमिल हो गई थीं। वे बड़े कष्ट से पग पग पर स्खलित सी होती हुई चल रही थीं। जब उनसे न चला गया तब अपने पति के कंधे से कपोल सटाती हुई भर्राई वाणी से बोलीं—"प्राणनाथ! अब तो एक पग भी चलने की सामर्थ्य नहीं।

जिस रानी को स्वेच्छा से सूर्य भी नही देख सकते थे, जिन्होने जीवन में कभी भी खुली भूमि पर पग नही रखे थे। जिन्हें पैदल चलने का कभी अवसर ही प्राप्त नही हुआ था, उन्ही सुख में पली रानी की ऐसी दुर्दशा देखकर महाराज नल

छप्पय

पालन सुत सम कर्यो प्रजा को रञ्जन कीन्हों।
यज्ञ याग बहु करे दान बहु विप्रनि दीन्हों॥
भये पुरञ्जय पुत्र बने जिन वाहन सुरपति।
भये ककुत्स्थ प्रसिद्ध इन्द्रवाहहु ते नरपति॥
दैत्यनि के संग सुरनि को, रण अतिहि भीषण भयो।
वीर पुरञ्जय के निकट, आइ देव निज दुख कह्यो॥

भोग्या बताई गई है, स्वर्ग के देवता भी वसुन्धरा के वीरों की अपेक्षा रखते हैं, समय-समय पर इनसे सहायता प्राप्त करते है। बहुत से पृथ्वी के ऐसे शूर, वीर राजा हुए हैं जिन्होंने देवताओं के शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये और देवताओं के हाथ के गये हुए स्वर्ग को पुन: दिला दिया है। ऐसे बहुत से राजर्षियों में से पुरञ्जय ककुत्स्थ भी एक हैं। ककुत्स्थ की कीर्ति अब तक त्रिभुवन में विख्यात है। इन्हीं के वंश में भगवान् कोशलेन्द्र श्रीराघव हुए हैं, जो ककुत्स्थ के वंशज होने से काकुत्स्थ भी कहलाते थे।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! अब मै आप को वह प्रसग सुनाता हूँ, जिस कारण महाराज शशाद के सुत धर्मात्मा पुरञ्जय 'इन्द्रवाह' और 'ककुत्स्थ' कहलाये।

एक बार जब सत्ययुग का अन्त हो रहा था और त्रेतायुग का आरम्भ होने वाला था, ऐसे सन्धिकाल में देवता और असुरों में बड़ा भारी घनघोर युद्ध हुआ। दोनो ही अपने प्राणों का मोह छोड़कर लड़े। अन्त में असुरों की विजय हुई। देवता पराजित होकर रण छोडकर भाग गये।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! ये देवता सदा पराजित क्यों हो जाते है?

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! जय-पराजय ये तो सब मन के मानने मे है। देवता असुर सभी उन सर्वात्मा प्रभु की इच्छा से ही उत्पन्न हुए हैं। दोनों ही कश्यप मुनि की सन्तान हैं। असुरों में शारीरिक बल अधिक होता है और सुरों में श्रद्धा का बल अधिक। जब सुरों को अपने ऐश्वर्य का अभिमान हो जता है और अपने को ही सब कुछ समझने लगते हैं, भगवान्

राजा ने कहा—"प्रिये! जो भाग्य में बदा होगा वही होगा तुम चिन्ता न करो। यह कहकर राजा आगे चले। चलते चलते उन्हें एक पथिक निवास मिला। उसमें वे धूलि में ही पड़ गये रानी उनकी गोद में सिर रखकर सो गई, कि कहीं ये मुझे छोड़ न जायँ। रानी बहुत थक गई थी वे तो पड़ते ही सो गईं। किन्तु नल के नयनों में नींद कहाँ? वे तो रानी को दुखी देख कर परम व्याकुल हो रहे थे। शनैः शनैः उठकर उन्होंने सोती हुई रानी के मुख को निहारा। मुरझाई हुई कुसुम कलिका के समान, ग्रहण लगे चन्द्र के समान, कुहरे से ढके सूर्य के समान, विषादग्रस्त प्रोषित भर्तृका के समान, उसका सुन्दर मुख म्लान हो रहा था। उसके काले काले घुंघराले बाल केशपाश चिपटकर सिमटकर बाबाजियों की जटाओ के समान बन गये थे। रानी की ऐसी दशा देखकर राजा रोने लगे। शनैः शनैः उन्होंने उस के सिर को उठाकर भूमि पर रखा। रानी थकने के कारण इतनी अचेत हो गई थी, कि उन्हें कुछ मालूम ही न हुआ।

दमयन्ती को भूमि पर लिटाकर महाराज उस निर्जन वन की पथिकशाला में इधर-उधर घूमने लगे। कभी तो मन में आता इसे छोड़कर चला जाऊँ, कभी फिर सोचते यह इस निर्जन वन में अकेली कहाँ भटकती फिरेगी। राजा बड़ी देर तक चिन्ता ग्रस्त बने रहे, वे कुछ निर्णय न कर सके। अन्त में वे रानी को छोड़कर चल दिये। एक बार उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के मुख कमल को समीप जाकर निहारा उनका हृदय फटने लगा। चित्त ऐठने लगा। अन्तःकरण धक धक करने लगा। वे अपनी ऐसी दशा देख तुरन्त वहाँ से चल दिये। कुछ दूर जाकर उन्हें फिर रानी की याद आई। वे लौट आये। रानी अचेत पड़ी थी। कभी तो वे सोचते—"अच्छा है मेरे बिना यह अपने पिता के

से असुरों से युद्ध करे, तो दैत्य अवश्य ही पराजित हो सकते हैं। तुम उनसे ही जाकर प्रार्थना करो।"

इन्द्र अब क्या करते देवताओं के राजा होकर वे एक पृथ्वी के राजा से प्रार्थना करने में अपना अपमान समझते थे, किन्तु करते क्या विजय का कोई दूसरा उपाय ही नहीं था। भगवान् की आज्ञा मानकर वे देवताओं के साथ महाराज पुरञ्जय के समीप गये। राजा ने देवताओं सहित देवेन्द्र का स्वागत सत्कार किया और आने का कारण पूछा। तब इन्द्र ने कहा—"राजन्! हमें असुरों ने पराजित कर दिया है। आप हमारी सहायता के लिये चलिये और हमारे शत्रु असुरों से युद्ध कीजिये।"

राजा ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"देवेन्द्र! मैं युद्ध करने के लिये तत्पर हूँ किन्तु आपको मेरा वाहन बनना पड़ेगा। यदि आपको मेरा वाहन बनना स्वीकार हो, तो मैं आपके साथ युद्ध करने चल सकता हूँ।"

यह सुनकर इन्द्र बड़े लज्जित हुए। इसमें उन्होंने अपना घोर अपमान समझा। मैं देवताओं का राजा होकर एक मनुष्य का वाहन कैसे बन सकता हूँ। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया। वे लौटकर भगवान् के समीप गये और बोले—"अजी महाराज! राजा को हमारी सहायता करनी नहीं है। वह व्यर्थ ही अड़ंगा लगाता है, कहता है—"मेरे वाहन बनो तो मैं युद्ध करने चलूँ।" आप ही सोचें मैं देवताओं का इन्द्र होकर मनुष्य का वाहन कैसे बन सकता हूँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे भैया! स्वार्थ सिद्धि के लिये गदहे को बाप बनाना पड़ता है। तुम्हारा इसी में कल्याण है कि राजा जो भी कहे उसे बिना ननु-नच किये स्वीकार-

आते। ऐसे वे कई वार गये आये। अन्त मे कड़ा हृदय करके वे दमयन्ती का परित्याग करके चले गये।

प्रातःकाल हुआ। दमयन्ती ने उठते ही शङ्कित भावसे इधर उधर दृष्टि डाली, किन्तु उसे अपने पति दिखाई न दिये। अब तो वह सब रहस्य समझ गई। कुररी पक्षी की भाँति वह रो रो कर वड़े आर्त स्वरमें अपने पति को पुकारने लगी–"हा!प्राण नाथ! मुझ दुखियाको आप इस घोर वनमे छोड़कर एकाकी कहाँ चले गये।" इस प्रकार दमयन्ती रोती जाती थी, विलाप करती थी और भागती जाती थी। पता नही आज उसमे इतनी शक्ति कहाँ से आ गई। आगे चलकर उसे एक भयङ्कर अजगर मिला उसने दमयन्ती को पकड़ लिया और उसे निगलने का उपक्रम करने लगा। इससे वह बहुत डरी और अपने पति को पुकारने लगी दैवयोग से उसी समय एक वहेलिया वहाँ आ गया। दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुनकर वह उसी ओर दौड़ा उसने एक शस्त्र से अजगर का मुख फाड़ दिया। दमयन्ती सकुशल अजगर के मुख से मुक्त हो गई।

वहेलिये ने कहा—"देवि!तुम समीप के ही स्वच्छ सलिल वाले सरोवर में स्नान करके स्वस्थ हो जाओ, ये कन्द मूल फल है इन्हें खा लो। अब चिन्ता की कोई बात नहीं।

रोते-रोते रानी के आँसू सूख गयेथे, भागते-भागते पैरों में पीड़ा हो रही थी,भूख के कारण उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं थीं। अतः उन्होंने समीप के सरोवर में स्नान किया स्नान करने से चित्त स्वस्थ हुआ। कुछ फलमूल भी खाये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुन्दरता कहीं कही अभिशाप

राजा ने कहा —"अच्छी बात है बनिये मेरा वाहन।"

इन्द्र ने सोचा—"और किसी अन्य पशु का रूप बनाना तो उचित नहीं। वृषभ का रूप बना लें यह देवस्वरूप है धर्म वृषभ रूप में ही रहते हैं। यही सब सोचकर इन्द्र एक बड़े भारी डीलडौल के सांड बन गये। राजा उनके डील टाट (ककुद्) पर स्थित हो गये। इसीलिये उनका नाम ककुत्स्थ हो गया। इन्द्र उनके वाहन बने थे इसलिये इन्द्रवाह भी कहलाये।

इन्द्र को अपना वाहन बनाकर महाराज ककुत्स्थ असुरों से युद्ध करने गये। असुर भी मदोन्मत्त होकर महाराज से लड़ने के लिये आये। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ बहुत से दैत्य गण उनकी प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रचण्ड बाणवर्षा के सम्मुख हताहत होकर युद्धस्थल छोड़कर भाग गये। असुरों के पराजित होते ही सुरसेना में सर्वत्र प्रसन्नता छा गयी। सभी महाराज को साधुवाद देने लगे। राजा ने असुरों के पुर को जीत कर उनकी धन सम्पत्ति सहित देवताओं को दे दिया। इसी से वे संसार में पुरञ्जय नाम से विख्यात हुए।

इस प्रकार शत्रु के पुर को जीतने से पुरञ्जय, इन्द्र को वाहन बनाने से इन्द्रवाह और वृषभ बने इन्द्र के ककुद पर स्थित होने से महाराज ककुत्स्थ कहलाये। इन धर्मात्मा राजा के पुत्र का नाम अनेना था। ये भी अपने पिता के ही समान शूरवीर और पराक्रमी थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में महाराज पुरञ्जय का चरित्र सुनाया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप बार-बार यह

समीप ठहरे हुए उस वणिक समूह पर जङ्गली हाथियों ने आक्रमण किया और दावानल भी लग गई, लोगों ने इस अनिष्ट का कारण दमयन्ती को ही समझा। वे उसे मारने की सोचने लगे। दमयन्ती उनके मनोगत भावों को समझ कर अकेली ही रात्रि में वन से चलदी। चलते-चलते उसे किसी राजा की बड़ी भारी राजधानी दिखाई दी। आधी धोती पहिने हुए दमयन्ती ने उस राजधानी में प्रवेश किया।

वह राजधानी धर्मात्मा सुबाहु राजा की थी उनकी राजमाता बड़ी दयावती पतिव्रता और सती थीं। संयोग की बात है, कि जब दमयन्ती ने नगर में प्रवेश किया तब वह अपनी चित्रसारी की छत पर खड़ी झरोखे से राजपथ की ओर देख रही थीं दमयन्ती के बाल बिखरे थे, आधी धोती में से उसका सौंदर्य खान से निकली मणि के समान फूट-फूट कर निकल रहा था। नगर के लड़कों ने उसे पगली समझा वे उसे चिढ़ाने लगे और ढेले मारने लगे दमयन्ती विवशता के साथ अपने को उनसे बचाने लगी। सुबाहु महाराजकी राजमाताको दमयन्तीकी दशा देखकर बड़ी दया आई और उसने तुरन्त अपनी दासी को बुलाकर कहा "देखो यह कौन विपत्ति की मारी स्त्री है? देखने से तो यह कोई राजवंश की प्रतीत होती है। इसके अङ्गों में आभूषण नहीं तन पर वस्त्र नहीं। ऐसी सुन्दरी स्त्री को इतना क्लेश! यह दैव की विडम्बना है। इसे तुरन्त मेरे पास लाओ। मैं शक्ति भर इसके दुख को दूर करने का प्रयत्न करूँगी।"

रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर दासी तुरन्त गई और लड़कों को हटाकर वह दमयन्ती को रानी के पास ले आई। रानी ने

काकुत्स्थ वंश वर्णन

[६२५]

धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः ।
धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवाशेषिताः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

पुत्र पुरंजय भये अनेना तिनके पृथुसुत ।
विश्वरन्धि तिन तनय चन्द्र तिनके सुत श्रीयुत ॥
चन्द्र तनय युवनाश्व कीर्ति जिन विपुल कमायी ।
तिनके सुत शावस्त जिननि शावस्ति बसायी ॥
भये पुत्र बृहदश्व तिन, कुवलयाश्व तिनके तनय ।
मुनि उतङ्क वध धुन्धु हित जिनहिँ लै गये करि विनय ॥

जिस राजा के राज्य में असुरों का–आततायियों का–उत्पात है, उस राजा का किया हुआ जप तप सब वृथा है। राजा का

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज कुवलयाश्व का नाम धुन्धु असुर को मारने से धुन्धुमार पड़ गया। धुन्धु के मुख की अग्नि निकलने से उस युद्ध में उन राजर्षि के सभी पुत्र मर गये। केवल तीन शेष रह गये।"

हुआ और वह राजकुमारी सुनन्दा की सहेलियों के साथ रहने लगी। सुनन्दा उसे बहिन की तरह प्यार करती, किन्तु दमयन्ती को तो अपने प्राणनाथ की चिन्ता थी।

इधर महाराज नल दमयन्ती को छोड़कर आगे चले। मार्गमें कर्कोटक नाग ने उन्हें डस लिया, इससे उनका सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया, कोई भी उन्हें देखकर पहचान नहीं सकता था कि ये निषाद देश के नरेश महाराज नल हैं। तब महाराज नल चलते-चलते अयोध्या पुरी में आये और उन्होंने महाराज ऋतुपर्ण के यहाँ रथ हाँकने की नौकरी ठीक करली। राजा इनके गुणों से विमुग्ध हो गये और कहा—"तुम मुझे अश्वहृदय विद्या सिखादो, मैं तुम्हें अक्षहृदय विद्या पाँसा फेंकने की विद्या सिखा दूंगा। महाराज नल तो यह चाहते ही थे अतः वे महाराज ऋतुपर्ण से अक्षहृदय सीखने लगे और उन्हें अश्व सञ्चालन विद्या सिखाने लगे। महाराज के हाथ के भोजन मे ऐसा स्वाद था कि राजा उनके अधीन से हो गये।

इधर दमयन्ती के पिता महाराज भीमको जब नल को जुएमें हारने का और दमयन्ती को वन में छोड़ कर कहीं चले जाने का समाचार मिला यो उन्होंने सहस्रों ब्राह्मणों को सभी देशों में अपनी पुत्री और दामाद का पता लगाने के लिये भेजा। एक सुदेव नामक परम बुद्धिमान ब्राह्मण खोजता खोजता चेदिराज आया जहाँ दमयन्ती महाराज सुबाहु के महलों में रहती थी। कुमारी सुनन्दा की दासियों में मलीन वसन पहिने दमयन्ती को देख कर विप्रवर सुदेव को हर्ष और दुःख दोनों ही हुए। हर्ष तो इस बात से हुआ कि मैंने दमयन्ती का पता लगा लिया और दुःख उसकी दयनीय दशा देख कर हुआ। सुदेव शीघ्रता से भीतर गया। एकान्त में उसने दमयन्ती से कहा—"बेटी! तू मुझे

के पुत्र शावस्त हुए, जिन्होंने शावस्ती नगरी का निर्माण करके उसमें अपनी राजधानी बनाई। इन यशस्वी शावस्त के पुत्र वृहदश्व हुए।

महाराज वृहदश्व धर्मात्मा यशस्वी और शूरवीर थे। इनके पुत्र का नाम कुवलया था। महाराज वृहदश्व अपने योग्य और सर्व गुण सम्पन्न पुत्र कुवलया को राज भार सौंपकर तपस्या के निमित्त वन के लिये चलने लगे, तो महर्षि उतङ्क ने आकर राजा का मार्ग रोका।

वन में जाते हुए राजा ने जब देखा कि तपस्या के तेज से अग्नि के समान जाज्वल्यमान महर्षि मेरा मार्ग रोके हुए हैं, तो वे मुनि के पैरों पर अपना सिर रखकर बोले--"ब्रह्मन्! मैं कोई खोटा कार्य तो कर ही नहीं रहा हूँ और न कोई नूतन प्रथा का ही अविष्कार कर रहा हूँ। हमारे पूर्वज जिस कार्य को करते आये हैं, उसे ही मैं धर्म समझ कर रहा हूँ। वृद्धावस्था में, सभी राजर्षि राज्य को सुयोग्य पुत्र के कन्धों पर रखकर स्वयं वन में जाते रहे हैं। उसी कार्य को जब मैं वश परम्परा का धर्म समझ कर रहा हूँ, तो आप मुझे रोकते क्यों हैं?"

यह सुनकर मुनि ने दृढ़ता के स्वर में कहा--"राजन्! ब्राह्मण के लिये वेदाध्ययन करना तथा क्षत्रिय के लिये प्रजा पालन करना पेट के लिये नहीं है। ये उनके परम धर्म हैं जो क्षत्रिय होकर-प्रजा पालन में समर्थ होकर--भी प्रजा का पालन नहीं करता वह नरक को जाता है। राजन्! तुम्हारे राज्य में मैं बड़ा दुखी हूँ।"

महाराज वृहदश्व, मुनि को ऐसी बात सुनकर बोले--"भगवन्! मुझसे ऐसा कौन सा अपराध हो गया है? आपको कौन कष्ट देता है?"

प्यारी पुत्री दमयन्ती है। निषध देश के महाराज नल की ये पत्नी हैं,इनके पति जूए में सर्वस्व त्याग कर इन्हें वन में छोड़कर कहीं चले गये। मैं इनके पिता के यहाँ का ब्राह्मण हूँ, सहस्रों ब्राह्मण महाराज ने इन्हें खोजने भेजे हैं। सौभाग्य की बात है, कि यह मुझे यहाँ मिल गई।"

इतना सुनते ही राजमाता ने दौड़कर दमयन्ती को छातीसे चिपटा लिया और रोते रोते कहा—"बेटी! अरे तेरी ऐसी दुर्दशा। तैंने मुझे अपना परिचय तक नही दिया। मैंने तो जब तू छोटी थी, बहुत दिन तुझे गोद में खिलाया है। मैं तेरी छोटी मौसी हूँ, तेरी माँ मेरी सगी बहिन है। हम दोनों ही दशार्ण देशाधिप महाराज सुदामा की पुत्रियाँ है,तेरे माथे पर एक मस्सा था। अब तो मलावृत्त होने के कारण वह दीखता ही नही। सुनदा ने जब सुना यह तो मेरी मौसी की लड़की है, तब तो वह उसके पैरों पर पड़ गई और रोती रोती बोली—"बहिन! अज्ञान में ऐश्वर्य के मद में दासी समझ कर मैंने तुम्हारा बहुत अपमान किया होगा, उसे तुम क्षमा कर देना।"

कसकर सुनन्दा को अपनी छाती से चिपटाते हुए दमयन्ती ने उसके सम्पूर्ण वस्त्रों को अपने अश्रुओं से भिगोते हुए कहा—"बहिन! इस विपत्ति में तुमने ही मुझे आश्रय दिया, नही तो मैं अब तक कभी भी जीवित न रहती।"

राजमाता ने कहा—"बेटी! यह तेरा घर है, तू यहीं रह।"
दमयन्ती ने कहा—"मौसी जी! मेरा घर तो है ही, किन्तु मेरे दो बच्चे मेरे पिता के यहाँ है पिताजी भी मेरे लिये चिन्तित होंगे अतः तुम मुझे विदर्भ ही पहुँचा दो।"

मारिये या अपने पुत्र से मरवाइये। इस विषय में मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

श्री शुकदेव कहते हैं—"राजन्! तब महाराज बृहदश्व अपने पुत्र कुवलयाश्व को धुन्धु के मारने की आज्ञा देकर वन को चले गये। महाराज कुवलयाश्व के बहुत पुत्र थे। वे उन सभी के पुत्रों को साथ लेकर महामुनि उत्तङ्क के साथ धुन्धु को मारने के लिये चल दिये।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! इन उत्तङ्क मुनि के आश्रम के निकट धुन्धु क्यों रहता था, और ये धुन्धुमार कौन थे कृपया इस कथा को हमें और सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो। मैं आपको धुन्धुमार की कथा सुनाता हूँ, उसे आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

असुर धुन्धु अति बली बालु के भीतर सोवै।
छोड़े जब फुफकार प्रजा सब दुखतें रोवै॥
मुनि उतङ्क बृहदश्व बली भूपति ढिँग आये।
कह्यो वृत्त सुनि भूप तुरन्त निज पुत्र पठाये॥
कुवलयाश्व पुत्रनि सहित, सुनि प्रसन्न अतिईं भये।
मुनि उतङ्क कूँ संग लै, धुन्धु मारिवे चलि दये॥

नहीं देतीं। उसके पति ने उसे विवश होकर छोड़ा है किन्तु वह प्रति पल उसका हृदय से स्मरण करता रहता है, शरीर से पृथक् होने पर मन से वह मिला है। योजन और कोशों का व्यवधान हार्दिक मिलन में विघ्न नहीं डाल सकता। समय आने पर उसके पति का पुनः मिलन होगा।" इतना संदेश कह कर नल चले गये। ब्राह्मण ने विदर्भ में जाकर दमयन्ती से ये सब बातें कहीं यह सुनकर दमयन्ती को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपनी माता से सम्मति करके पिता को बिना जताये सुदेव नामक उसी बुद्धिमान् ब्राह्मण को अयोध्या भेजा। महाराज ऋतुपर्ण पहिले ही दमयन्ती के रंगरूप पर आसक्त थे। उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था, कि किसी प्रकार दमयन्ती मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु जब दमयन्ती ने लोकपालों को भी परित्याग करके नल को पति रूप में वरण कर लिया तो वे निराश हुए। फिर भी दमयन्ती के प्रति जो उनका अत्यधिक अनुराग हो गया था वह कम नहीं हुआ। दमयन्ती को यह बात विदित थी। अतः राजा नल को यहाँ बुलाने के लिये उसने एक षड्यन्त्र रचा। सुदेव से उसने कहा—"तुम जितने भी शीघ्र जा सकते हो, अयोध्या पुरी में जाओ और वहाँ के राजा ऋतुपर्ण से कहना—"दमयन्ती फिर से स्वयम्वर करना चाहती है, उसके पति उसे छोड़कर चले गये उनका कोई पता नहीं। किन्तु स्वयम्वर कल ही होगा। यदि आप एक रात्रि में अयोध्या से विदर्भ (वरार) पहुँच सके तो स्वयम्वर में सम्मिलित हों।"

सुदेव दमयन्ती की बात सुनकर शीघ्रता से अवध पुरी में गये और वहाँ एकांत में जाकर राजा से सब बातें कही। सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, उसने अपने बाहुक नामक प्रधान सारथी को बुलाकर कहा—"बाहुक। यदि आज दिन

पालन करने में यदि पुत्र परिवार और प्राणों का भी उत्सर्ग करना पड़े, तो मनस्वी पुरुष तनिक भी संकोच नहीं करते। वे हँसते-हँसते प्राणों का परित्याग करते हैं। जिस एक के कारण अनेकों को कष्ट होता है, उस एक का वध करने वाले पुरुष को अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है। और संसार में उसका नाम अजर अमर हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको धुन्धु के वध की कथा सुनाता हूँ। जब महाराज बृहदश्व अपने पुत्र कुवलयाश्व को धुन्धु वध की आज्ञा देकर वन चले गये, तब कुवलयाश्व ने मुनि उत्तङ्क का बहुत सम्मान किया और पूछा—"ब्रह्मन्! धुन्धु इतना बली क्यों हुआ? और किस कारण आप के आश्रम के समीप उपद्रव करता है?"

इस पर उत्तङ्क मुनि बोले—"राजन्! यह दुष्ट मधु नामक दैत्य का पुत्र है। इसके पिता को भगवान् सनातन विष्णु ने मार डाला। यह पापात्मा बड़ा खल है, जो समुद्र सूख गया है, उसकी बालू के नीचे यह छिपा हुआ पड़ा रहता है। असुरों का स्वभाव ही होता है, साधु पुरुषों को पीडा पहुँचाना इसीलिये यह सब प्रजा जनों को क्लेश देता रहता है। मेरा आश्रम समीप ही है अतः धूलि से वह ढक जाता है, मेरे जप तप में बडा विघ्न पड़ता है। वह साधारण दैत्य नही है परम प्रतापी है आप योगी है, आप संभव है उसका बध कर सकें। अकेले आदमी से वह कभी न मरेगा, आप सेना सजाकर उसे मारने चलें।

यह सुनकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरे इक्कीस सहस्र पुत्र हैं, मैं इन सबको साथ लेकर उस पापी असुर को मारने चलूंगा। आप सन्देह न करें मैं उस दुष्ट को अवश्य ही यमपुर पठाऊंगा।" यह सुनकर मुनि ने कहा—"महाराज! यदि ऐसी

माप सब ही परिवर्तित हो गये थे, किन्तु उनकी अंग संचालन की गतिविधि को देखकर वार्ष्णेय को वार-वार संदेह होने लगा।

इतने ही में रथ से अत्यन्त शीघ्र चलने के कारण महाराज ऋतुपर्ण का दुपट्टा गिर गया। उसी क्षण राजा ने शीघ्रता से कहा—"बाहुक ! तनिक रथ को रोक दे, मेरा दुपट्टा गिर गया, वार्ष्णेय दौड़कर उसे उठा लावें।" इतने शब्दों को सुनते ही हँसकर नल बोले—"राजन्। आपने जितनी देर में ये शब्द कहे है उतनी देर में रथ दो कोश दूर निकल आया। अब आप दुपट्टे की आशा न रखें।'

राजा को नल की इस अश्वविद्या नथा रथ-संचालन चातुरी पर बड़ा आश्चर्य हुआ। रथ में बैठे ही बैठे राजा बोले— "बाहुक जैसे तुम अश्वविद्या में निपुण हो, वैसे हो मैं गणना करने में निपुण हूँ, देखो सामने जो यह बहेड़े का वृक्ष है इसकी दोनों डालियों पर और टहनियों पर पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पिचानवे फल लगे हैं।"

इतना सुनते ही नल के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा उसने रथ को लौटाकर बहेड़े के सम्मुख खड़ा कर दिया और रथ से उतर कर बोले—"राजन् ! जब तक मैं इस पेड़ के सब पत्ते और फलों को गिनकर अपने कुतूहल को शांत न कर लूँगा, तब तक आगे न बढ़ूगा।"

इस पर विनती करते हुए राजा ऋतुपर्ण ने कहा—'भैया, देखो ! विलम्ब हो रहा है, तुम हठ मत करो पीछे आकर मैं स्वयं अपनी परीक्षा दे दूँगा।"

राजा नल ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"राजन् ! आप चाहें

बड़े सौभाग्य की बात है कि आपके आशीर्वाद से वह दुष्ट दैत्य मारा गया। अब प्रजाओं को भय की कोई बात नहीं रही, अब आप निश्चिन्त होकर तप करें।"

राजा के ऐसे विनीत वचन सुनकर महामुनि उत्तङ्क ने कहा—"राजन्! आपने बहुत बड़ा कार्य किया, आपने सम्पूर्ण लोकों को निष्कंटक और दुख हीन बना दिया। मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ, कि आपकी धर्म में बुद्धि हो युद्ध में आप सदा अपराजित रहें आपका धन धान्य अक्षय हो और आप के मरे हुए सभी पुत्रों को अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति हो।"

सूतजी कहते हैं—'राजन्! इस प्रकार उत्तङ्क मुनि से आशीर्वाद पाकर राजा अपनी राजधानी को लौट आये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये महामुनि उत्तङ्क कौन थे? किसके पुत्र थे? उनमें ऐसा तेज और तप किस व्रत के प्रभाव से हुआ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! ये उत्तङ्क मुनि भगवान् भृगु के पुत्र थे और महर्षि गौतम के शिष्य थे। गुरु शुश्रूषा के प्रभाव से ही इनमें इतना तेज हुआ। ये निरन्तर श्रद्धा पूर्वक अपने गुरु गौतम की सेवा किया करते थे और तो विद्यार्थी आते थे और विद्या पढ़कर चले जाते थे, किन्तु ये सदा गुरुसेवा में ही लगे रहते थे, इन्होंने कभी घर जाने का नाम ही नहीं लिया। सेवा करते-करते ये बूढ़े हो गये। ये घर जाना भी चाहते हो गुरु स्नेह वश इन्हें आज्ञा न देते, इससे ये गुरुकुल में रहकर बूढ़े हो गये। इनकी दाढ़ी सफेद हो गई। एक दिन समिधाओं का गट्ठर लेकर आ रहे थे, कोई लकड़ी इनकी सफेद दाढ़ी में उलझ गई, बोझा गिर पड़ा। ये बड़े दुखी हुए। महर्षि गौतम की पुत्री युवती थी, इन ऋषि की गुरु सेवा का उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव

रथ को हांक दिया और सूर्यास्त से पूर्व ही वे राजा को लेकर विदर्भ देश की नगरी कुन्डिनपुर में पहुंच गये। राजा नल के रथ की घड़घड़ाहट सुनकर उनके कुन्डिनपुर में रहने वाले घोड़े हिनहिनाने लगे। दमयन्ती ने जब रथ की घड़घड़ाहट सुनी तो उसे विश्वास हो गया, कि इस रथ को मेरे पति ही हांक रहे है, ऐसा शब्द उनके रथ चलने से ही होता है।

कुन्डिनपुर में स्वयंवर की किसी प्रकार भी कोई तैयारी नहीं थी न कोई राजा तथा राजकुमार ही आये थे, न पुरी ही सजाई गई थी। महाराज ऋतुपर्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज भीम ने जब सुना कि अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण मेरे यहाँ पधारे हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। अत्यन्त आह्लाद के सहित उनका स्वागत सत्कार किया कुशल प्रश्न के अनन्तर महाराज प्रसंग वश पधारने का कारण जानना चाहा। महाराज ऋतुपर्ण ने स्वयंवर की कुछ भी तैयारियाँ न देखकर बात को टालते हुए कहा—"आप के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये थे इसीलिये मिलने मिलाने चला आया।"

महाराज भीम ने कहा—"यह मेरा अहोभाग्य आप यहाँ विराजें। मेरा राज्यपाट आपका ही है, मैं भी आप का ही हूँ। महाराज ऋतुपर्ण बड़े चक्कर में पड़े। मुझे ऐसी सूचना किसने और क्यों दे दी। राजा से पूछने को भी उन्हें साहस नही हुआ। कन्यादान जीवन में एक बार ही होता है, कुलवती कन्या एक ही बार पतिवरण करती है। अतः वे तुरन्त लौटने के लिये आग्रह करने लगे। राजा भीम ने कहा—"महाराज। आप सौ योजन से भी अधिक यात्रा करके आये हैं। आप हमें अपना नहीं समझते। यहाँ सुखपूर्वक निवास करें।"

पर पहुँचे, तो इन्होंने उनका विधिवत् स्वागत सत्कार किया। जब इन्हें विदित हुआ कि भगवान् महाभारत युद्ध कराकर आ रहे हैं, तब ये भगवान् पर बड़े क्रुद्ध हुए और बोले—"हे वासुदेव! आपने समर्थ होते हुए भी कौरवों और पांडवों के युद्ध को नहीं रोका। इसलिये मैं आप को शाप दूंगा।"

तब भगवान् ने मुनि को अपना यथार्थ स्वरूप बताया—"विश्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराया और समझाया कि यह सब भाग्यवश होता है आप मुझे शाप देने में समर्थ नहीं हैं।"

तब इन्होंने भगवान् का यथार्थ रूप समझकर उनकी स्तुति की। इनकी स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् ने इनसे वरदान माँगने को कहा तब इन्होंने भगवान् से यही वर मांगा कि—"इस मरु भूमि में मुझे जहाँ भी जल की आवश्यकता हो वहीं जल निकल आवे।"

भगवान् ने 'तथास्तु' कहकर ऐसा वरदान दिया और रथ पर चढ़ कर द्वारका पुरी को चले गये। कुछ काल के पश्चात् इन्होंने एक स्थान पर जल की इच्छा की। वहीं जल उत्पन्न हो गया, किन्तु उस जल में एक चांडाल कुत्तों को लिये हुए खड़ा था। वह मुनि से कह रहा था—"मुनिवर! आप यहाँ से जल ले जाइये।"

मुनि ने सोचा—"मैं चांडाल के पैरों के नीचे का जल कैसे ले सकता हूँ।" यह सोचकर उन्होंने उस चांडाल को डाँटा और जल लेना स्वीकार नहीं किया। तब वह कुत्तों सहित चांडाल वहीं अन्तर्धान हो गया। अब तो मुनि ने सोचा—"हो न हो यह भगवान् श्रीकृष्ण की हो महिमा है।" इतने में ही चतुर्भुज भगवान् वहीं उत्पन्न हुए और बोले—"मुनिवर! आपने जल की इच्छा की थी मैंने सोचा—"जल आपको क्या दूँ, एक अमृत

केशिनी ने ये सब बातें जाकर दमयन्ती से कहीं, सुनकर दमयन्ती का हृदय बाँसों उछलने लगा, फिर भी उसे नल के रूप के कारण सन्देह ही बना रहा। अबके उसने केशिनी से कहा—"तू गुप्त रूप से जाकर उसकी सब क्रियाओं को देखकर मुझे बताना।"

केशिनी गई और सब देखकर उसने बताया वह तो आलौकिक पुरुष हैं, विना अग्नि के अग्नि उत्पन्न कर लेता है, रीते घड़ों को संकल्प के पानी से भर लेता है, वह पाक विद्या में बड़ा निपुण है, उसमें अनेक अलौकिक गुण हैं।"

दमयन्ती ने कहा—"उसके हाथ के बने कुछ पदार्थ तू माँग ला।"

केशिनी किसी प्रकार उससे कुछ भोजन की वस्तुएँ माँग लाई, दमयन्ती ने उन्हें चखकर निश्चय कर लिया, ये मेरे पति के बनाये हुए पदार्थ है।"

फिर भी उसे नल के रूप और छोटे आकार को देखकर संदेह बना रहा। अबके दमयन्ती ने केशिन के साथ अपने दोनों बच्चों को नल के पास भेज दिया। उन देव सदृश बच्चों को देखकर नल ने दौड़कर उन्हें छाती से चिपटा लिया और वार-बार प्यार करके उनका मुख चूमने लगे। वे आत्म-विस्मृति होकर बालकों की भाँति रुदन करने लगे। वार-वार बच्चों का सिर सूँघने लगे। उनके ऐसे वात्सल्य प्रेम को देखकर केशिनी को निश्चय हो गया, कि ये पुण्यश्लोक महाराज नल ही हैं।"

कुछ काल के पश्चात् वाह्य ज्ञान होने पर आँसुओं को पोंछते हुए नल बोले—"केशिनी! देख, तू बार-बार मेरे पास मत

नदी हुई। कृशाश्व का पुत्र सेनाजित या प्रसेनजित हुआ उनकी पत्नी का नाम गौरी था जो आगे चलके पति के शापवश बाहुदा नाम की नदी हो गई। सेनजित के पुत्र युवनाश्व हुए। इन युवनाश्व के ही पुत्र विश्व विख्यात चक्रवर्ती महाराज मान्धाता हुए।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! मान्धाता की माता का क्या नाम था ?"

हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! मान्धाता के तो माता थी ही नहीं, इन्हें तो इनके पिता महाराज युवनाश्व ने ही गर्भ में धारण किया था। इसीलिये उन्हें चाहे आप माता समझ लें या पिता, या माता-पिता दोनों ही।"

इस पर अत्यन्त आश्चर्य करते हुए शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! स्त्रियों को गर्भ धारण करते हुए तो हमने सदा से सुना है। पुरुषों के तो गर्भाशय होता ही नहीं। पुरुष तो कभी गर्भ धारण नहीं करते, फिर महाराज युवनाश्व ने राजर्षि मान्धाता को कैसे गर्भ में धारण किया। इस विषय में तो हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। इसका पूरा वृत्तान्त हमें सुनाइये।

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! माया में सब कुछ सम्भव है। सब कुछ हो सकता है। अच्छी बात है इस कथा को जैसे मैंने गुरु मुख से सुना है उसे वैसे ही सुनाता हूँ सुनिये।"

छप्पय

सुत हर्यश्व निकुम्भ भये तिनि बर्हणाश्व सुत।
तिनिके भये कृशाश्व सेनजित तिन सुत बलयुत॥
नृपति सेनजित् पुत्र भये युवनाश्व यशस्वी।
मान्धाता तिन पुत्र चक्रवर्ती तेजस्वी॥
माता बिनु पैदा भये, पिता गर्भ महँ वास कर।
सुनहु कथा आश्चर्य युत, पुण्य प्रदायिनि मनोहर॥

में प्रवेश करके मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उसी ने मुझसे राज्यपाट छुड़वाया, तुमसे विलग कराया अब जो हुआ सो हुआ। अब कलियुग मेरे शरीर से निकल गया है। अब फिर हमारे दिन फिरेंगे। फिर हम पूर्ववत् सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे। इस प्रकार चौथे वर्ष में पति और पत्नी का पुनः आकर मिलन हुआ। रात्रि भर दोनों पति पत्नी अपने सुख दुख की बातें कहते सुनते रहे। प्रातः काल नल और दमयन्ती ने स्नान किया वस्त्र भूषणों से सुसज्जित होकर उन दोनों ने महाराज भीम को प्रणाम किया। अपनी पुत्री के साथ जामाता को देखकर राजा को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने इसके उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव कराया और ब्राह्मणों को विविध दान दिये।

महाराज ऋतुपर्ण को जब ज्ञात हुआ, ये महाराज नल है, तब तो उन्होंने इनसे क्षमा याचना की। नल ने उन्हें अश्वहृदय विद्या सिखा दी। नल ने भी राजा से अक्ष विद्या भली भाँति सीख ली। कर्कोटक ने अपना विष भी आकर उतार लिया। इससे महाराज पूर्ववत् सुन्दर हो गये। कलियुग उनके शरीर से पहिले ही निकल चुका था अतः अब वे चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए। महाराज ऋतुपर्ण भीम और नल से अनुमति लेकर अयोध्या चले गये। कुछ काल कुण्डिनापुर में रह कर नल अपनी प्यारी पत्नी दमयन्ती के साथ कुछ धन और सैनिक लेकर अपनी राजधानी में गये। उन्होंने फिर अपने भाई पुष्कर के साथ जूआ खेला। अबके पुष्कर अपना राज पाट सर्वस्व हार गये। उसने दमयन्ती का अपमान किया था, अतः वह डर रहा था; कि महाराज मुझे मार डालेंगे, किन्तु महाराज नल तो धर्मात्मा थे। उन्होंने कहा--"भैया ! पुष्कर ! देखो भाग्य ही सब सुख दुख देता है। कौन किसे सुखी दुखी बना सकता है।

हो जाती है। इसीलिये दैवबल को ही प्रधान बल कहा है। अल्पज्ञ पुरुष का बल तुच्छ है व्यर्थ है। जिस बात को सभी लोग असम्भव बताते हैं, दैवेच्छा से वह सम्भव हो जाती है जिसे स्वाभाविक और असम्भव बताते हैं, वह क्षण भर में ही बदल जाती है। इसीलिये तत्परता के साथ कर्म करते हुए, उनके फलों को भगवान् के ऊपर छोड़ देना चाहिये। क्योंकि प्रभु प्रेरणा से कर्म करने में ही हमारा अधिकार है, उसका फल क्या होगा इसे फल दाता ही जाने।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—' राजन्! अब मैं आपको चक्रवर्ती राजर्षि मान्धाता के जन्म की कथा सुनाता हूँ, उसे आप दत्त-चित्त होकर श्रवण करें।''

महाराज युवनाश्व की प्रथम पत्नी से कोई सन्तति नहीं हुई। तब राजा ने पुत्र की कामना से एक के पश्चात् एक इस प्रकार १०० विवाह किये किन्तु भाग्यवश सब रानियाँ वन्ध्या निकलीं। किसी के भी पुत्र नहीं हुआ। राजा ने पुत्र प्राप्ति के लिये बहुत यत्न किये, किन्तु पुत्र के मुख के दर्शन राजा को न हो सके। इस दुख से दुखी होकर वे रानियों को साथ लिये हुए वन को चले गये। वन में जाकर वे ऋषियों के आश्रम में रहने लगे। राजा बड़े धर्मात्मा थे, अतः ऋषियों ने एक सभा की। सब ने विचार किया, कि धर्मात्मा राजा राज्य छोड़कर यहाँ रहते हैं, प्रजा की रक्षा कौन करेगा। फिर इनके पश्चात् राज्य सिंहासन पर कौन बैठेगा। इक्ष्वाकु वंश का विच्छेद तो होना न चाहिये। यही सब सोचकर ऋषियों ने राजा के पुत्र हो इस कामना से एक पुत्रेष्टि यज्ञ आरम्भ किया। ऋषियों के मन्त्रों में तो अमोघ शक्ति होती है। ये मन्त्र बल से जो चाहें सो कर सकते हैं। इसीलिये उन्होंने यज्ञ के अन्त में एक कोरे

यन्ती का तथा अयोध्याधिप महाराज ऋतुपर्ण के नाम का नित्य कीर्तन करते है, उन्हें कलि कृत दोप दुःख नही दे सकते॥ इसके अनतर आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी। महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र कौन हुए। कृपा करके ऋतुपर्ण से आगे के मुख्य इक्ष्वाकु वंश के राजाओ का चरित्र हमें सुनाइये।"

इसपर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मै महाराज ऋतुपर्ण से आगे के राजाओं का वृत्तान्त सुनाता हूँ, आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

दमयन्ती पति तजी भाग्यवश आई पितु घर।
पति खोजन हित रच्यो दुबारा मृषा स्वयम्बर ॥
नल ऋतुपर्ण समेत ससुर गृह रथले आये।
नल दमयन्ती मिले सुनत सब जन हरषाये ॥
कायातें कलियुग भग्यो, जब नृप के दिन फिरि गये।
गयो राज फिरि तें मिल्यो, जग यश भागी नल भये ॥

॥ कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षः कीर्तनं कलिनाशनम्

कभी गर्भ धारण नहीं किया। गर्भ धारण करना तो स्त्रियों का ही काम है।"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! काम किसी का भी क्यों न हो। हमारे मंत्र तो अमोघ होते हैं, उनकी शक्ति कहीं भी व्यर्थ नहीं होती। उस मन्त्रपूत जल में ऐसी शक्ति थी, कि यदि आप उसे पत्थर के पात्र में भी रख देते, तो उससे भी पुत्र पैदा हो जाता, सो वह तो आप के पेट ही में पहुँच गया है।

राजा तो बड़े घबराये हुए थे बोले—"मुनियो! यह तो बड़ी विचित्र बात हो जायगी। पेट में पुत्र बढ़ तो जायगा, किन्तु वह उत्पन्न कैसे होगा?"

मुनियों ने कहा—"अब आप ही देख लें १० महीने के पश्चात् पेट का बालक स्वयं ही अपने उत्पन्न होने का मार्ग बना लेगा।

रानियाँ हँसने लगीं। राजा लज्जित हुए। मुनिगण बड़ी सावधानी से राजा की देख देख करने लगे। जब ६ मास पूरे हो गये, तो दशवें मास में राजा की दक्षिण कुक्षि को फोड़कर एक बड़ा ही सुन्दर प्रतापशाली तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। मुनि के आशीर्वाद और चिकित्सा से राजा को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। फटी हुई कुक्षी फिर ज्यों की त्यों ही जुड़ गई।

अब राजा को एक चिन्ता हुई। रानी यदि पुत्र को उत्पन्न करती तो बच्चे को अपना दूध पिलाती! राजा अब उसे क्या पिलावें वे बार-बार कहने लगे 'कंधाता-कंधाता" यह किसका दूध पियेगा, किसका दूध पियेगा। जिस यज्ञ से ये उत्पन्न हुए थे, उसके देवता इन्द्र थे। इसीलिये वह ऐन्द्री इष्टि कहलाती थी। इसीलिये इन्द्र ने आकर कहा 'मां धाता, मां धाता' यह मेरा दूध पीवेगा, मेरा दूध पीवेगा।' बालक अपने बाल स्वभाव के कारण रुदन करने लगा। तब उसे पुचकार कर धैर्य बँधाते हुए

प्रकार के सर्वज्ञ होते हैं, एक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें सर्वदा ही अखण्ड ज्ञान बना रहता है। दूसरे ऐसे होते है जो जब वे वाह्य व्यवहार में लगे रहते है, तो उनका ज्ञान सर्व साधारण पुरुषों के समान होता है, किन्तु जब वे चित्त को समाहित करके ध्यान मग्न होते है,तब होने वाले भूत, भविष्य तथा वर्तमान का समस्त ज्ञान हस्तामलकवत् होने लगता है। यह जो शापाशापी होती है ऐसे ही सर्वज्ञ मुनियों द्वारा होती है, जैसा होन हार होता है, वैसे ही बुद्धि बन जाती है, वैसे ही उनके मुख से अकस्मात् शाप निकल जाता है पीछे ध्यानस्थ होकर उसके विषय में विचार करते हैं, तो उसके प्रतीकार की अवधि या उपाय भी बता देते हैं। कोई न किसी को शाप दे सकता है, न असमय पर अनुग्रह ही कर सकता है। जिसका जैसा समय होता है,उसके वैसे ही सब संयोग जुट जाते हैं। भविष्यता चलकर स्वयं नहीं जाती, उसे ही घेर बटोर कर ले आती है।

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन् ! यह तो मैं बता ही चुका हूँ, कि इक्ष्वाकुवंश में अयुतायु के सुत नल के सखा ऋतुपर्ण हुए। धर्मात्मा महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र सर्वकाम हुए। सर्वकाम के सुत सुदास हुए जो कल्माषपाद और मित्रसह के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जो वशिष्ठ जी के शाप से नर भक्षी राक्षस हो गये थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा–"प्रभो ! धर्मात्मा राजा सुदास राक्षस किस अपराध से हो गये ? सर्वज्ञ महर्षि वशिष्ठ ने अपने प्रिय शिष्य सुदास को ऐसा कठिन शाप किस कारण दिया ?"

इस पर श्री शुकदेवजी बोले—"कोई किसी को दुख सुख

अपने मणिमय मुकुटों की किरणों से उनके चरणों की उँगलियों को प्रकाशमान बनाये रहते थे। महारानी बिन्दुमती के गर्भ से महाराज के तीन बड़े ही प्रतापशाली पुत्र उत्पन्न हुए। जिनके नाम पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुन्द हैं। पुरुकुत्स सब में बड़े थे। अम्बरीष को मान्धाता के पिता युवनाश्व ने गोद ले लिया अर्थात् पौत्र न मानकर उसे पुत्र माना। इसलिये वह यौवनाश्व कहलाया। उस यौवनाश्व के हारीत आदि कई पुत्र हुए। ये लोग मान्धातृ गोत्र में अवान्तर गोत्र प्रवर्त्तक हुए अर्थात् गोत्र एक होने पर भी प्रवर पृथक् हुए।

महाराज मान्धाता के पुरुकुत्स, अम्बरीष और योगी मुचुकुन्द इन तीन पुत्रों के अतिरिक्त ५० कन्यायें भी हुईं। जिनका विवाह भगवान् सौभरि ऋषि के साथ हुआ।

यह सुनकर राजा परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! भगवान् सौभरि ऋषि के साथ महाराज मान्धाता ने अपनी प्यारी दुलारी राजकुमारियों का विवाह क्यों कर दिया। ऋषि की विवाह करने की इच्छा क्यों उत्पन्न हुई और महर्षि ने एक साथ ५० राजकुमारियों से विवाह क्यों किया? कृपा करके इस आख्यान को मुझे सुनाइये। सौभरि ऋषि कोई साधारण महर्षि तो हैं नहीं। इनके सूक्त तो ऋग्वेद में भी आते हैं। इसीलिये ये महर्षिबह्वृच कहलाते हैं इनके परम पावन चरित्र को मुझे अवश्य सुनाइये।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! यह तुमने बड़ा ही पुण्य प्रद प्रश्न किया। मैं आपको अब महर्षि सौभरि का चरित्र सुनाता हूँ तदनन्तर मान्धाता के वंश का वर्णन करूँगा आप इसे श्रद्धासहित श्रवण करें।"

मुनि ने कहा—"झूठ बोलता है, मैंने तुझे कब ऐसी आज्ञा दी।"

राजा ने कहा—"प्रातःकाल ही आपने आकर मुझ से कहा था, कि मेरे लिये नरमास बनाना।"

मुनि ने कहा—"मैं प्रातःकाल यहाँ आया भी नहीं।"

राजाने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, आप आये थे और स्वयं मुझ से आपने कहा था।"

राजा की दृढ़ता और निर्भीकता से प्रभावित होकर मुनि ने ध्यान लगाया और ध्यान में सभी बातें जानकर नम्रता के साथ बोले—"राजन्! भूल हो गई राक्षस की यह सब करतूत है। जिस राक्षस के भाई को आपने मारा था,उसी ने मेरा रूप बना लिया था, और उसी ने रसोइये का रूप रखकर इस अभक्ष्य पदार्थ को बनाया है, किन्तु मैंने कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला, अतः आपको नर भक्षी राक्षस तो बनना ही पड़ेगा, किन्तु जीवन भर नहीं। १२ वर्ष के पश्चात् आपका राक्षसपना छूट जायगा आप फिर राजा हो जायँगे।"

राजा को इस बात पर बड़ा क्रोध आया। गुरु अकारण ही बात को बिना जाने मुझे शाप दे रहे हैं यह इनका कार्य अनुचित है। राजा भी सामर्थ्यवान् थे,अतः वे भी हाथ में जल लेकर गुरु वशिष्ठ को शाप देने को उद्यत हो गये।

गुरु को शाप देते देखकर महाराज की पत्नी मदयन्ती ने राजा को रोकते हुए कहा—"प्राणनाथ! आप यह क्या कर रहे हैं। यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। गुरु को कभी भी शाप न देना चाहिये।"

सौभरि चरित्र

[६२८]

पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दं च योगिनम् ।
तेषां स्वसारः पञ्चाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥
यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परन्तपः ।
निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

कन्या जनी पचास सुन्दरी अति सुकुमारी ।
बड़ी भईं सब संग कमल नयनी पितु प्यारी ॥
व्रज मंडल महँ परम तपस्वी सौभरि मुनिवर ।
यमुना जल महँ बैठि तपस्या करैं उपार ॥
बाल ब्रह्मचारी रहे, गये वृद्ध तनु क्षीन अति ।
बरस सहसदश तप करयो, नहिं निरखी संसार गति ॥

महर्षियों ने बहुत समझ-सोच कर [illegible]

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज मान्धाता के पुरुकुत्स अम्बरीष और योगी मुचुकुन्द ये तीन पुत्र हुए । इन की ५० बहिनों ने सौभरि ऋषि को पति रूप में वरण किया [illegible] तपस्वी सौभरि ऋषि यमुना के जल के भीतर रहकर [illegible] रहे थे वहीं उन्होंने एक मैथुन धर्म से तत्पर मीनराज को [illegible]

यह सुन कर श्री शुक बोले—"राजन् ! अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती जो मित्र के समान है उसकी बात को सहने मानने के कारण ही महाराज का नाम मित्रसह पड़ा। उन्होंने स्त्री के कहने से गुरु को शाप नहीं दिया। अब वे राक्षस हो गये। हो क्या गये, आकृति तो उनकी मनुष्यों जैसी ही रही, किन्तु जङ्गलो में घूम-घूम कर मनुस्यों को खाने लगे और राक्षसों जैसी चेष्टायें करने लगे। सुनते हैं, भगवान् वशिष्ठ के पुत्र शक्ति को भी विश्वामित्र जी की प्रेरणा से ये ही राजा खा गये थे। विश्वा-मित्र जी की वशिष्ठ जी से पुरानी लाग डाँट थी। जब वशिष्ठजी के ही शाप से राजा राक्षस हो गये, तो उन्होने इन्हें प्रेरणा करके शक्ति के पास भेजा और ये शक्ति को खा गये। शक्ति की पत्नी गर्भवती थी उसी से पराशर जी का जन्म हुआ। जिन्होंने पिता का वदला लेने के लिये एक राक्षस यज्ञ आरम्भ किया। जिसमें वहुत से राक्षस आ आकर जल ने लगे। यह देख कर राक्षसों के जनक भगवान् पुलस्त्य आये और उन्होने वशिष्ठ के साथ इन्हें समझाया बुझाया। तब कही जाकर वे इस अभिचार यज्ञ से उपरत हुए। राजा ने राक्षस भावापन्न होकर बहुत से पाप किये। ब्रह्म हत्याएँ कीं। इसी समय महाराज को अनपत्य होने का शाप भी मिला, जिससे वे स्वय सतति उत्पन्न करने में असमर्थ हो गये।"

यह सुन कर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! महा-राज कल्माष पाद को किसने अनपत्य हाने का शाप दिया। महा-राज ने उसका ऐसा कौन सा अपराध किया था, इस कथा को श्रवण करने की मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है, यदि आप मुझे अधिकारी समझते हों और कोई न कहने योग्य बात न हो, तो कृपा करके इसके कारण को मुझे अवश्य सुनाइये।"

घोर महर्षि के पौत्र तथा अंगिरा महर्षि के प्रपौत्र थे। उन्होंने बाल्य काल से ही तपस्या आरम्भ कर दी थी। जीवन में कभी न तो गृहस्थियों का संग किया और न कभी सांसारिक सुखों की ओर दृष्टि उठाकर ही देखा। अपने आश्रम में एकान्त में रहकर ये भगवान् की आराधना करते हुए कालक्षेप करते थे। कभी-कभी आश्रम के निकट से स्त्री-पुरुष निकल जाते, कभी कभी बातें भी सुनाई दे जाती। इससे मुनि को आन्तरिक दुःख होता। उन्हें संसारिक बातें विष के समान लगती थीं।

उन्होंने सोचा—"यहाँ बाहर रहेंगे, तो इन संसारी लोगों की बातें सुनाई देंगी ही इसलिये जल के भीतर रहकर तपस्या करें।" जहाँ मुनि का आश्रम था, उसके समीप ही एक कुन्ड था। उसमें मुनि निवास करते। जल मे डुबकी लगाकर समाधि लगा लेते और भजन करते रहते। मछलियाँ आ-आकर मुनि के शरीर पर किलोलें करती रहतीं। मुनि को कुछ पता ही नहीं चलता किन्तु जब समाधि खोलते तो उन छोटी बड़ी चमकीली मछलियों को इधर से उधर फुदकते देखकर मुनि का चित्त बड़ा प्रसन्न हो जाता।

प्राणिमात्र के हृदय में प्रेम करने की एक स्वाभाविक शक्ति होती है। वह किसी से बिना प्रेम किसे रह नहीं सकता। जिनसे प्रेम हो जाता है, उनमें अपनापन हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः मुनि की विरक्ति स्त्री पुरुष तक ही सीमित रही। उनका प्रेम मछलियों में व्यक्त हुआ। उन मछलियों को वे अपना सगा सम्बन्धी समझने लगे। सुनते हैं एक बार कुछ धीवरों ने उस कुन्ड में जाल डाला बहुत सी मछलियों के साथ मुनि भी जाल में फँस गये। धीवरों ने बड़ा मत्स्य समझकर उन्हें खींच लिया। जब मुनि को देखा तब डर गये।

सौदाससुत अश्मक

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥
सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० ३८,३९ श्लोक)

छप्पय

बोले नृप सौदास–प्रभो ! अब रक्षा कीजैं।
चलै जासु मनु वंश पुत्र इक गुरुवर कीजै ॥
कीयो गर्भाधान भई अति हर्षित रानी।
नष्ट वंश नहिं होय बात जिह सबने जानी ॥
सात बरष तक उदरतें, नहीं पुत्र पैदा भयो ॥
मदयन्ती अति दुखित ह्वै, वचन पुरोहिततें कह्यो ॥

दोष भावना से होता है, भाव शुद्धि होने पर शुद्ध भावना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ब्राह्मणों के शाप के अनन्तर महाराज सौदास ने स्त्री सुख का परित्याग कर दिया। इस प्रकार अपने ही किये कर्म द्वारा सन्तान हीन हो गये। राजा की अनुमति से वशिष्ठ जी ने गर्भ स्थापित किया। उस गर्भ को रानी सात वर्षों तक धारण करे रही। किन्तु बच्चा नहीं हुआ। तदनन्तर वशिष्ठ ने पाषाण के आघात द्वारा बच्चे को पैदा किया। इसलिये उनका नाम अश्मक हुआ।"

गरुड़जी भी कुछ कम नहीं थे, वे बोले—"मुनिवर ! मैं आपके ब्राह्मणपने का आदर करता हूँ और आप अपने आपे से बाहर

हीं हुए जा रहे हैं। मैं कहता हूँ, मैं तो यहीं आकर मत्स्यों को खाया करूँगा।" यह कहकर वे एक बड़े भारी मत्स्य को अपनी चोंच से पकड़ कर निगल गये। मत्स्य के मारे जाने पर अन्य मछलियाँ दीन होकर विलाप करने लगीं। सभी अपने स्वामी

मन्त्रियों की सहायता से राज्य की देख-देख करती थी। अब जब उनके पति विशुद्ध बन गये, तब उन्हें परम हर्ष हुआ। जब वे ऋतु स्नान करके निवृत्ति हुईं तब महाराज ने सन्तान की इच्छा से वैदिक विधि पूर्वक उनके गर्भाधान करना चाहा। उस समय पतिव्रता मदयन्ती बड़े स्नेह भरे स्वर मे राजा से बोली-"प्राणनाथ। आप को स्मरण न होगा। आप जब राक्षस भावापन्न थे, तब आपने एक गर्भाधान कराती हुई ब्राह्मण पत्नी के पति को बल पूर्वक उससे पृथक् करके भक्षण कर लिया था। उसने आप को शाप दिया था कि जब तुम गर्भाधान सस्कार करने को उद्यत होगे, तभी तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।" सो प्राणनाथ। आप उस पतिव्रता के शाप को स्मरण कीजिये। इस समय आप गर्भाधान करेंगे, तो मेरा भी मनोरथ पूर्ण न होगा। आप गर्भाधान भी न कर सकेंगे। यदि आप का कुछ हुआ, तो मै एक क्षण भी आप के बिना जीवित न रह सकूँगी इस लिये आप गर्भाधान का विचार छोड़ दें।"

राजा ने कहा—"प्रिये। तुम सत्य कहती हो। यदि मेरी मृत्यु हो गई, तो यह इक्ष्वाकुवंश सदा के लिये विलुप्त हो जायगा। उस पतिव्रता का शाप अन्यथा तो हो नही सकता। इसलिये आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। स्त्री सुख से सदा पृथक् रहूँगा, किन्तु फिर वंश परम्परा कैसे चलेगी।"

महारानी ने कहा—"हमारे कुल देव भगवान् वशिष्ठ ही है। आप उनकी शरण में जायें, वे जो करेंगे वह धर्मानुकूल ही करेगे।"

यह सुन कर राजा महर्षि वशिष्ठ के समीप गये और बोले-"ब्रह्मन् ! मेरा वंश विच्छेद न हो, ऐसा कोई उपाय करें।

हो जाता है। एकाग्र चित्त जिस विषय में लग जाता है, वही तन्मय हो जाता है। बहुधा देखा गया है कि जो व्यक्ति जीवन भर सदाचारी संयमी रहे हैं, बाद में किसी कारण से किसी स्त्री आदि से प्रेम करने लगे हैं तो इतने तन्मय हुए हैं कि संसार को भूल गये हैं। उनकी तन्मयता निन्द्य विषयिता की कभी हो नहीं सकती। क्योंकि एकाग्र समाहित मन ही तुरन्त से एक विषय में तन्मय हो जाता है।

मुनि की समाधि ज्यों ही खुली त्यों ही उन्होंने सम्मुख बड़े भारी एक मत्स्य को देखा। उसके ८-१० पुत्र थे २५-३० पौत्र थे। उसकी स्त्री बड़ी पतिपरायणा थी। अपनी पत्नी और पुत्र पौत्रों के साथ वह मत्स्यराज परम प्रमुदित हो रहा था। पत्नी उसकी स्नेह भरित हृदय से सेवा कर रही थी, पुत्र पौत्र प्रसन्नता से इधर-उधर फुदक रहे थे। नाना प्रकार की क्रीड़ायें कर रहे थे। उन सबके साथ इस प्रकार सुख से किलोलें करते देखकर मुनि का चित्त वहीं स्थिर हो गया। वे सोचने लगे—"देखो, मैंने इतने वर्षों तक भाँति भाँति के व्रत-नियमों का पालन करते हुए घोर तप किया किन्तु इतनी प्रसन्नता, इतनी आत्म तुष्टि मुझे कभी नहीं हुई। यह जल चर जीव होकर भी अपनी प्रिया के साथ कितना सुखी है। इसीलिये मनुष्य घर द्वार को नहीं छोड़ सकते। मैंने अपना जीवन इन कठोर नियमों में ही बिताया, कभी गृहस्थ सुख का अनुभव नहीं किया। गृहस्थ में इतना सुख न होता, इतनी मादकता न होती तो अधिकांश लोग सब कुछ छोड़कर वन को क्यों न चले जाते। निश्चय ही गृहस्थ में इतना सुख है, तभी तो यह मत्स्य अपनी पत्नी और परिवार के साथ इतना प्रसन्न और प्रमुदित हो रहा है। मैं भी गृहस्थ बनकर उस सुख को अनुभव क्यों न करूँ।

मे आनन्द मनाया गया। अश्मक (पत्थर) से आघात करने के कारण उनकी उत्पत्ति हुई अतः मुनि ने उसका नाम अश्मक रखा।

कुमार अश्मक अपने पिता के समान ही सुन्दर और गुणी थे। शनैः शनैः वे बडे हुए। युवा होने पर महाराज सौदास ने उनका विवाह कर दिया। अन्त में उन्हें राज पाट सौंप कर वे महारानी मदयन्ती के साथ वन में चले गये और वहाँ तपस्या करके स्वर्गगामी हुए।

श्री शुक कहते है—"राजन् ! पिता के बन चले जाने के अनन्तर अश्मक धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। इनके एक पुत्र हुआ जो क्षत्रिय कुल का मूल होने से मूलक कहलाया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"क्षत्रिय कुल के मूल तो महाराज मनु हैं, ये अश्मक पुत्र मूलक क्षत्रिय कुल के मूलक क्यों कहाये। हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

श्री शुक बोले—"अच्छी बात है सुनिये राजन् ! मैं इसका कारण बताता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

भगवन् ! का भरि दयो उदरमहँ जो नहिँ निकसत।
अटक्यो एकहि ठौर तनिक तहँ तैं नहिँ खिसकत॥
मुनि हँसि लियो अश्म मन्त्र पढ़ि उदर छुवायो।
मदयन्ती ने तुरत सुघर सुत श्रम बिनु जायो॥
प्रमुदित सबही जन भये, राजा रानी पुरोहित।
तेई अश्मक नामतें, भये भूप जग महँ विदित॥

सौभरि ऋषि का विवाह

[६२६]

जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत ।
सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

ब्याह करन अभिलाष भई सब नियम भुलाये।
मान्धाता ढिँग पुरी अयोध्या महँ मुनि आये॥
बोले—पुत्री हैं पचास तुमरे हे भूपति।
करूँ याचना एक ब्याह की इच्छा चित अति॥
सुनि नृप अति विस्मित भये, घबराये सब अँग थके।
वृद्ध देह तप अमित लखि, हाँ ना कछु नहिँ करि सके॥

जिसने भगवान् को प्रसन्न कर लिया है, उसके लिये संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। पहिले तो उसके मन में कोई सांसारिक इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं। कदाचित् पूर्व

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब सौभरि ऋषि के मन मे विवाह करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गई, तो उन्होने महाराज मान्धाता से जाकर एक कन्या की याचना की। इस पर वे राजा बोले—"ब्रह्मन्! भीतर चले जाइये, जो कन्या आपको स्वेच्छा से वरण करले—उसे आप प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लें।"

स्वभावतः शुद्ध कार्य होते है और अशुद्ध भाव होने से अशुद्ध कार्य होते है। सात्विक भावों का जब प्रावल्य होता है तब सात्विक कार्य होते है, तमोगुण की प्रबलता में तामसी कार्य इसीलिये मुनियों ने भाव शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। अन्य शरीरों में अन्य जाति के प्राणियों का आवेश हो जाता है। मनुष्य के शरीर मे भूत, प्रेत, पिशाच, बैताल, ब्रह्मराक्षस आदि घुस जाते है, तब उसका शरीर तो वैसा ही रहता है, चेष्टा सब उन आवेश वाले प्राणियों की सी हो जाती है। जिसने जीवन में कभी सुरापान न किया हो, यदि उसके शरीर में कोई सुरापी जीव घुस जाता है, तो वह यथेष्ट सुरापान कर लेता है। उस समय वह जो कार्य करता है, स्वयं नहीं करता। उसके शरीर मे जिसका आवेश होता है, वही सब करता है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! वसिष्ठजी के शाप से महाराज सौदास के शरीर में राक्षस घुस गया। अब वे सभी चेष्टायें राक्षसों की सी करने लगे। जगलों में घूमने लगे। जहाँ भी किसी पुरुष को देखते, वही उसे पकड़कर खाजाते। एक दिन राजा राक्षसभावापन्न होकर भूखे इधर-उधर आहार की खोज में रात्रि के समय घूम रहे थे उसी समय उन्होंने देखा एक ऋषि अपनी पत्नी में गर्भाधान संस्कार कर रहे है। संतति की कामना से द्विज पत्नी अपने पति के साथ सहवास कर रही है। महाराज की ऐसी चेष्टा देखकर द्विज पत्नी डर गई। राजा ने बल पूर्वक जाकर मुनि को पकड़ लिया। अभी तक मुनि पत्नी का मनोरथ पूर्ण नही हुआ था, उस समय में राक्षस के प्रहार करने से पत्नी पति दोनो को मर्मान्तिक क्लेश हुआ। राजाने बल पूर्वक पति पत्नी को एक दूसरे से पृथक कर दिया और उनमें से पुरुप को पकड़ लिया स्त्री को, छोड़ दिया। राक्षस भी सहसा स्त्री पर

पुण्यश्लोक राजर्षि सौदास हैं। आपके द्वारा यह क्रूर कर्म कभी भी न होना चाहिये। आपका साधु समाज में सर्वत्र सम्मान है। आप तो दीनों पर सदा दया करते रहते हैं, फिर गौ और ब्राह्मणों के तो आप भक्त हैं। ये वेदवादी धर्मज्ञ श्रोतिय ब्राह्मण है। आप इन्हें क्यों खा जाना चाहते है ? यदि आपने इन्हें खाने का निश्चय कर लिया है, तो पहिले मुझे खा लीजिये। इनके विना मैं एक क्षण भी जीवित नही रह सकती।"

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन् ! इस प्रकार वह विप्र पत्नी विविध भाँति से विलाप करती रही, अनेक प्रकार से राजा को समझाती रही, किन्तु महाराज सौदास तो शाप से विमोहित थे, उन्होंने ब्राह्मणी की एक बात भी न सुनी। वे उसके पति को खा गये। यह देखकर मुनिपत्नी को बड़ा दु.ख हुआ। उसने राजा को शाप देते हुए क्रोध में भरकर कहा–'अरे पापी ! अरे क्रूर ! तैंने मुझ अवला पर तनिक भी दया न की। मैं सतान की इच्छा से पति का सहवास कर रही थी, तैंने वलात् मेरे पति से मुझे पृथक् कर दिया। मेरी इच्छा पूरी न होने दी, अत: मैं तुझे शाप देती हूँ, कि तू भी जब स्त्री समागम करेगा, तब तेरी भी इसी प्रकार मृत्यु हो जायगी, तू सन्तानोत्पत्ति करने में कभी समर्थ न हो सकेगा।"

महाराज तो शाप विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी के शाप पर कुछ भी ध्यान नही दिया। वे ब्राह्मण को खा कर चले गये। वह पति परायण विप्र पत्नी अपने पति की अस्थियों को लेकर चिता चुनकर सती हो गई। वह परलोक में जाकर अपने पति के साथ मिल गई। इस प्रकार राक्षस भावापन्न राजा को मुनि पत्नी का अनपत्य होने का शाप हुआ था।

उन कन्याओं में से ही एक कन्या हमें दे दो। हम याचक हैं। आशा लगाकर तुम्हारे द्वार पर याचना करने आये हैं। आप धर्मात्मा हैं, प्रजा के लिये कल्पवृक्ष के समान है। आपके यहाँ से कोई अर्थी निराश होकर नहीं लौटता। आप अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कीजिये और एक कन्या देकर मेरी मनोकामना पूर्ण कर दीजिये।"

राजा के ऊपर तो मानों वज्र गिर गया हो, उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी, मुनि ऐसा प्रस्ताव कर सकते हैं क्या? कहाँ तो मेरी प्यारी, दुलारी, परम सुकुमारी राजकुमारी और कहाँ ये वृद्धावस्था से जर्जरित कठोर चर्म वाले बूढ़े मुनि। इन्हें अपनी कन्या देना तो कन्या के जीवन को व्यर्थ बनाना है कन्या मुझे जीवन भर कोसेगी, कि पिता ने कैसे वर के हाथों मुझे बिना सोचे समझे दे दिया। एक ओर तो यह कठिनाई थी, दूसरी ओर मुनि के कोप का भी भय था। राजा मुनि के तप-तेज को जानते थे, उन्हें यह भी विश्वास था, मुनि चाहें तो शाप देकर क्षण भर में मेरे राज्यपाट को भस्म कर सकते हैं। अतः वे न तो नहीं ही कर सकते थे और न हाँ ही कह सकते थे। वे धर्मसंकट में पड़ गये। फिर भी राजा ही ठहरे उन्होंने एक युक्ति सोची और बड़ी नम्रता से बोले—"ब्रह्मन् आपका कहना यथार्थ है। ब्राह्मण संसार में सबसे श्रेष्ठ वर है, फिर वह तपस्वी तेजस्वी यशस्वी और महर्षि हो तब तो कहना ही क्या। आप सर्वथा मुझसे कन्या पाने के अधिकारी हैं किन्तु मुनिवर! शास्त्रकारों ने ८-१० वर्ष की लड़की को ही कन्या कहा है। उसे योग्य वर को दान करने का पिता को स्वयं अधिकार है। यदि कन्या की इससे बड़ी अवस्था हो जाय, वह बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में प्रवेश कर जाय तब

गौतम मुनि बोले—"अच्छी बात है, यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है, तो मुझे तो कुछ इच्छा है नही, अपनी गुरु माता के पास जाओ, वह जो वस्तु लाने को कहे. वह उसे लाकर दे दो"

यह सुनकर उत्तङ्क अपनी गुरु माता अहल्या के निकट गये और बोले—"माता जी! अब मै विद्या समाप्त करके जा रहा हूँ, मैं कुछ गुरु दक्षिणा देना चाहता हूँ, गुरु जी ने मुझे आपके पास भेजा है, आपकी जो भी इच्छा हो, उसे मै पूर्ण करूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे है—"ऋपियो! स्त्रियों से कोई मन की बात पूछे, तो वे कोई न कोई आभूपण की ही इच्छा करेगी। विवाह में-त्योहार पर्व में-जायँगी, तो सबसे पहिले उनकी दृष्टि आभूषणों पर ही पड़ेगी, किसके कर्णफूल सुन्दर हैं, किसका हार चमकीला है, किसका कौन सा आभूपण कैसा है, किसकी अँगूठी में फँसा नग है, जो वस्तु उनके मन पर चढ़ जायगी, उसे बार-बार देखेंगी उसका मूल्य, मिलने का पता पूछेगी और अवसर पड़ने पर उसके लिये पति से आग्रह करेंगी। चाहे आभूपण पेटी में ही बन्द रहें कभी भी न पहिने, किन्तु आग्रह अवश्य करेंगी। गौतम पत्नी अहल्या कभी यज्ञ में अपने पति के साथ अयोध्या गई होंगी। वहाँ महलों मे उन्होंने कभी सौदास की पतिव्रता पत्नी मदयन्ती को दिव्य कुण्डल पहिने देखा होगा। वे कुंडल उसके मन पर चढ़ गये होगे। पति से तो कैसे कहती। जब शिष्य ने आकर पूछा—"तब बड़े स्नेह से बोली—"बेटा? यदि तुम मेरी इच्छा पूरी करना चाहते हो, तो मेरी एक इच्छा है,उसे यदि पूरी कर सको तो मैं परम प्रसन्न होऊँगी।"

उत्तङ्क मुनि बोले—'माताजी। आप अपनी इच्छा मुझे बताइये। असम्भव बात भी होगी, तो भी मैं उसे पूर्ण करूँगा।

सब कन्याओं से कह देना—"जो इन महर्षि को स्वेच्छा से वरण करेगी, उसका विवाह मैं इनके साथ कर दूंगा।"

प्रतिहारी ने सिर झुकाकर राजा की आज्ञा शिरोधार्य की मुनि के आगे होकर कन्याओं के अन्त:पुर का मार्ग दिखाने लगा। अन्तःपुर रक्षक प्रधान प्रतिहारी आगे-आगे चल रहा था, उसके पीछे-पीछे मुनि चल रहे थे, उन्होंने अपने योग बल से इतना सुन्दर रूप धारण कर लिया था कि कोटि कामदेव भी उनके रूप के सम्मुख लज्जित हो जाते। वे देखने में १७-१८ वर्ष के परम सुन्दर सुकुमार युवक से प्रतीत होते थे। उनके अङ्ग-अङ्ग से सौन्दर्य और यौवन फूट-फूटकर निकल रहा था। विकसित कमल के समान बड़ी-बड़ी विशाल आंखों में अनुराग की झलक स्पष्ट प्रतीत होती थी। उनकी चितवन में जादू था। मन्द-मन्द मुस्कराते हुए और कामिनियों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करते हुए वे कन्याओं के अन्तःपुर में पहुँचे। ऐसे सुन्दर सुकुमार युवक को देखकर सभी कन्यायें अपने आपे को भूल गईं। वे उनके सौन्दर्य माधुर्य के जाल में ऐसी फँस गईं कि स्त्री सुलभ स्वाभाविक लज्जा को भी भूल गईं। अपलक दृष्टि से मुनि के मनोहर रूप को निहारती की निहारती ही रह गईं। बूढ़े प्रतिहारी ने हाथ उठाकर कहा—"पुत्रियो! मुझे महाराज ने आज्ञा दी है कि इन मुनिवर को आप सबके समीप ले जाऊँ। आपमें से जो इन्हें स्वेच्छा से पतिरूप में वरण करेगी, उसी का विवाह महाराज इनके साथ कर देंगे।"

यह सुनकर सबके मुखकमल उसी प्रकार खिल गये जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी खिल जाती है। उनमें से कई एक साथ ही बोल उठीं "मैं इन्हें वरण करती हूँ।" इस पर जो बड़ी थी वे बोलीं—"तुम्हें ऐसी बात कहने में लज्जा नहीं

गुरुदक्षिणा के लिये जो प्रयत्न कर रहा हो, इन्हें अवध्य बताया है। अत. आप मुझे मार कर खाने का विचार छोड़ दें।"

राजा सौदास बोले—"ब्रह्मन् ! मैं तो राक्षस हूँ। दिन का छठा भाग बीत चुका, मुझे भूख लग रही है आप दे रहे हैं धर्म की सीख। यह उसी प्रकार की शिक्षा है जैसे प्रज्वलित अग्नि को घृत डालकर शान्त करना। द्विजवर? अबतो मैं आपको बिना खाये छोड नहीं सकता।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"ब्रह्मन् ! मुझे मरने से तो भय है नही, किन्तु मुझे गुरुदक्षिणा की चिन्ता है। यदि आपने मुझे खाने का ही दृढ़ संकल्प कर लिया है, तो पहिले मुझे मेरी मनमानी वस्तु दे दीजिये। उसे देकर तथा गुरु ऋण से उऋण होकर मै पुन: आपके समीप आ जाऊँगा, तब आप मुझे खालें।"

राजा सौदास बोले—"अजी, महाराज ? मैं कोई बच्चा तो हूँ नही, जो आप मुझे फुसला लें। राक्षस के मुख से निकल कर फिर कौन प्राण गवाँने आता है।"

उत्तङ्क मुनि ने उत्तेजित होकर कहा—"राजन् ! आप मुझे झूठा समझते है ? मैं अवश्य आऊँगा।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, मांगिये, क्या आपको माँगना है। यदि वह वस्तु मेरे अधीन हुई तो उसके मिलने में आप तनिक भी सन्देह न करें।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"मुझे अपनी गुरुपत्नी को देने के लिये आपकी पतिव्रता पत्नी के कानों के दिव्य कुण्डल चाहिये।"

राजा ने कहा—"वह तो मेरी रानी के पास है, उससे जाकर आप माँगे।"

मुनि ने रानी से जाकर ज्यों ही यह बात कही त्यों ही रानी ने अपने कानों में से दिव्यकुंडल उतार कर मुनि को दे दिये और कह दिया—"ब्रह्मन् ! ऐसे दिव्य कुण्डल तीनों लोकों में भी कहीं नहीं है। इन्हें आप पृथिवी पर भूल कर भी न रखना नहीं तो कोई नाग, देव, दानव इन्हें तुरन्त उठा ले जायगा।"

रानी की यह बात सुन कर उसे आशीर्वाद देकर मृग चर्म में कुंडलों को लपेट कर मुनि उत्तंक चल दिये। वे एक बार राजा के पास मित्र भाव से फिर आये और बोले—"राजन् ! आप का कल्याण हो, आप ने जो रानी को संकेत वचन कहा था, उसका अभिप्राय क्या है ?"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! जीवन भर मैंने ब्राह्मणों की सेवा की इसका फल यह हुआ, कि मुझे राक्षसी योनि प्राप्त हुई। फिर भी जैसे अबोध बालक को माँ के अतिरिक्त कोई गति नही, वैसे ही ब्राह्मणों के अतिरिक्त मेरी भी कोई गति नही। इसीलिये मैंने आप को राक्षस भाव में भी मुहमांगा दान दिया। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। अब तुम्हें देखना है कि तुम कुंडल देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हो या नही। लौट कर मेरा आहार बनते हो या नहीं।"

यह सुन कर उत्तंग मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप से मित्र भाव से एक प्रश्न पूछता हूँ, उसका उत्तर आप मैत्री धर्म समझ कर दें। क्योंकि सज्जन पुरुष जिससे वार्तालाप कर लेते हैं, वे उनके मित्र बन जाते हैं। अतः आप मेरे मित्र हुए। राक्षस भाव से नहीं मित्रभाव से आप मेरी बात का उत्तर दें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, पूछिये ! मैं मित्रभाव से ही यथार्थ उत्तर दूँगा।"

उसने कहा—"भगवन् ! वे दुष्ट उस युवती से बलत्कार करने का आयोजन कर रहे थे, वह कुररी की भाँति डकरा रही थी, मुझे उस पर दया आई। मुझसे न रहा गया और सोचा — "जैसे ही ७० वैसे ही ८०" यह सोचकर मैंने उन्हें मार डाला। उस स्त्री को सकट से छुड़ाया। उसके देखते ही यह झन्डा काले से सफेद हो गया।"

यह सुनकर गुरु बोले—"भैया तुम्हारी इन हत्याओं ने ही तुम्हारे सब पापो को धो दिया। किसी को मार देना ही हिंसा नहीं है और किसी को जीवित छोड़ देना ही अहिंसा नहीं है। यदि किसी को धर्म भ्रष्ट करके उसे जीवित छोड़ भी दिया, तो वह मरण से भी अधिक दुखदायी है वह अहिंसा सबसे बड़ी हिंसा है। और कोई गाँव में आग दे रहा है, कुओं में विष डाल रहा है, शस्त्र लेकर मारने आ रहा है या स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट कर रहा है, तो शक्ति रहते इन पापो का बिना विरोध के चुपचाप सहन करते रहना, उसे इन पापों को करते देखना सबसे बड़ी हिंसा है, उसे बिना विचारे मार देना ही परम धर्म है। ऐसे दुष्टों का वध कर देना अधर्म नहीं परम धर्म है। पाप पुण्य का सम्बन्ध भावना से है। वे ७० हिंसायें तुमने स्वार्थवश की थीं इसलिये उनसे तुम्हें घोर पाप लगा। ये हिंसायें तुमने परमार्थ भावना से की, इसलिये तुम्हारे सब पाप धुल गये, तुम्हें परम पुण्य की प्राप्ति हुई। दया ने तुम्हें शुद्ध बना दिया। उस सती की करुणा भरी दृष्टि ने तुम्हारे काले झन्डे को शुभ्र बना दिया। देखो, तप करना कोई पाप नहीं है। अध्ययन करना पाप नहीं है, किसी के धन को बल पूर्वक छीन लेना भी पाप नहीं है। यदि ये ही काम स्वार्थ से प्रेरित होकर अधर्म भावना से किये जायं तो पाप हैं। इसलिये तुम अब भजन करो।"

का शाप हो गया, तो उनका आगे का वंश कैसे चला, इसे कृपा कर हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! अब मैं आप को सौदास अश्मक का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप इसे श्रद्धा सहित सुनें।"

(छप्पय)

बीते बारह बरस शाप उद्धार भयो जब।
करिबे गर्भाधान भये उद्यत भूपति तब॥
बरजे रानी नृपति शापकी याद दिलाई।
महिषी संतति बिना बहुत रोई घबराई॥
वंशनाशको भय समुझि, लख्यो न अन्य उपाय जब।
गुरु वशिष्ठतें बिनय करि, भूप प्रार्थना करी तब॥

सौभरि मुनि का गार्हस्थ्य जीवन

[६३०]

स बह्वृचस्ताभिरपारणीय-
तपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भः-
सरस्सु सौगन्धिककाननेषु ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ६ म०, ४५ श्लो०)

छप्पय

विधिवत् करयो विवाह फेरि सुनरख मुनि आये।
सबकूँ सुन्दर महल पृथक् सौभरि बनवाये॥
सबकूँ भूषण वसन सुखद शैयादिक दीन्हीं।
सबकी इच्छा पूर्ण तपस्या तैं मुनि कीन्हीं॥
सब महलनि महँ सरोवर, स्वच्छ नीर नीरज सहित।
असन वसन उबटन सतत, रहहिँ पवन सुखप्रद बहत॥

यदि गृहस्थ में रहकर गृहस्थ सम्बन्धी सभी सुख हैं, अर्थात् धन की कमी नहीं, नित्य किसी न किसी व्यवसाय से धन आता

---

* शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् तदन्तर वे ऋग्वेदीय ऋषि अपने अपार तप के प्रभाव से बहुमूल्य परिच्छेदों वाले घरों में, नाना उपवनों में अमल जल वाले सरोवरों में सौगन्धिक नामक कमल वाले कमल के काननों में अपनी स्त्रियों के संग विहार करने लगे।"

दिखाई देने वाला कार्य अधर्म माना जाता है। जो सर्वज्ञ हैं वे ही धर्म के मर्म को भली भाँति जान सकते है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अश्मक के पुत्र मनुकुल के मूलक क्यों हुए इस प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ। महाराज अश्मक ने बहुत दिनों तक पृथिवी का पालन किया। बहुत से यज्ञ याग किये और अन्त में अपने पुत्र मूलक को राज-पाट सौंपकर वन में तपस्या करने चले गये।

जिन दिनों महाराज मूलक पृथिवी का राज्य करते थे,उन्हीं दिनों जमदग्नि के सुत भगवान् के अंशावतार श्रीपरशुरामजी का प्राकट्य हुआ। उनके पिता को हैहय कुल के क्षत्रियों ने मार डाला था, अतः महर्षि परशुराम ने हाथ मे फरसा लेकर प्रतिज्ञा की थी कि मैं 'पृथिवी पर एक भी क्षत्रिय को न छोड़ूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके उन्होने क्षत्रिय कुल का संहार करना आरम्भ कर दिया। जहाँ भी बूढ़े, बच्चे, युवक क्षत्रिय को देखते वहीं वे उसका संहार कर देते। इस प्रकार क्षत्रियो का संहार करते करते वे अयोध्या पुरी में भी आये।

महाराज मूलक ने जब सुना कि क्षत्रिय कुल नाशक महर्षि परशुराम आरहे है, तो उन्होंने सोचा—"वे तो भगवान् के अंशावतार है, उनसे मैं युद्ध में तो किसी प्रकार जीत नहीं सकता अतः वे महल में जाकर रानियों में छिप गये। रानियो ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और चूड़ियाँ पहिना दीं। महाराज परशुराम जी आये उन्होंने चारो ओर राजा को खोजा, राजा का कहीं पता ही न लगा। अन्तःपुर में उन्होने देखा तो सब रानी ही रानी बैठी है, स्त्रियाँ तो सदा अवध्या बताई है, अतः महर्षि देख भाल कर लौट आये। उन्होंने समझा राजा भाग गया।

के साथ विवाह किया तो उनमें परस्पर सौतिया डाह नहीं होता था क्या ?"

इस पर श्री शुकदेव बोले—"राजन् ! सौतिया डाह तब होता है जब पति एक पत्नी के साथ कुछ और व्यवहार करे, दूसरी के साथ कुछ और। जब सबके साथ समान व्यवहार किया जाय तब सौतिया डाह कैसे होगा ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मुनि तो एक थे, स्त्रियाँ थीं ५०। कभी किसी के यहाँ रहे तो दूसरी स्वाभाविक ही बुरा मनेगी। ऐसी दशा में सौतिया डाह होना स्वाभाविक ही है।"

श्री शुक बोले—"महाराज ! मुनि तो सर्व समर्थ थे वे अपनी तपस्या के प्रभाव से सब कुछ जानते थे और सब कुछ करने में समर्थ थे। उन्होंने कहने सुनने के लिये किसी को अवसर ही नहीं दिया जब वे विवाह करके आये तो उन्होंने सर्व प्रथम देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा को बुलाया। सुनते ही विश्वकर्मा दौड़े आये और हाथ जोड़ कर बोले—"मुनिवर ! सेवक के लिये क्या आज्ञा होती है ?"

सौभरि ऋषि ने कहा—"देखो भैया ! तुम समस्त शिल्पियों में श्रेष्ठतम हो। हमने ५० राजकन्याओं के साथ विवाह किया है। तुम इन पचासों के लिये पचास महल पृथक् पृथक् बनाओ व ऐसे हों कि तनिक भी न्यूनाधिक्य न हो, सब समान हों, सबके आकार-प्रकार साज सामान, रूप-रंग एक से हों। सबमें स्वर्गीय सुखों की समस्त सामग्रियाँ समुपस्थित रहें। किसी में किसी वस्तु की कमी न रहे।'

हाथ जोड़े हुए विश्वकर्मा ने कहा—"बहुत अच्छी बात है भगवन् ! मैं ऐसे ही ५० महल तुरन्त बनाता हूँ। तब तक आप

बात यह थी, कि दैत्यों ने देवताओं पर चढ़ाई कर दी। देवता बहुत दिनों तक लड़ते रहे किन्तु वे दैत्यों को पराजित न कर सके। जब वे सब प्रकार से थक गये, तब वे पृथिवी पर आये। उन दिनों महाराज खटवाङ्ग इस सम्पूर्ण भूमंडल का शासन करते थे। वे पराक्रम में इन्द्र के समान थे। देवताओं ने प्रार्थना की—"राजन् ! आप हमारी ओर से चलकर असुरों से युद्ध करें।' देवतओं की प्रार्थना से महाराज अपने दिव्य रथ पर चढ़ कर स्वर्ग गये और उन्होंने युद्ध में असुरों का संहार किया। देवताओं की विजय हुई।"

विजय के अनन्तर देवताओं ने कहा—"राजन् ! आपने बड़ा श्रम किया, आप मुक्ति को छोड़ कर हमसे और जो भी चाहें वरदान माँग लें, क्यों कि मुक्ति के दाता तो मधुसूदन ही है।"

राजा ने कहा—"देवताओ ! मैं सर्वप्रथम यह जानना चाहता हूँ, कि मेरी अब आयु कितनी और शेष है ?"

देवताओ ने कहा—"अजी, राजन् ! आयु की क्या पूछते है, आपकी आयु तो अब केवल मुहूर्त भर और शेष है।"

यह सुन शीघ्रता के साथ राजा बोले—"तो अब रहने दीजिये मुझे कुछ भी वर न चाहिये अब तो मैं इस एक मुहूर्त का सदुपयोग करना चाहता हूँ, इस एक मुहूर्त में ही मन माधव के पाद पद्मों में लगाकर परम गति प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे मेरे नगर मे ब्राह्मणों के बीच में जाने दीजिये। यद्यपि आप सब सत्व प्रधान है, किन्तु स्वर्ग के दिव्य विषय भोगों में आसक्त होने के कारण अपने अन्तः करण में स्थित परम प्रिय सनातन आत्मा श्री हरि को नही जान पाते।"

ऐसा कह कर महाराज तुरन्त स्वर्ग से अवनि पर आये, मन को श्रीहरि के चरणों में लगाकर उन्होंने मर्मान्तिक वाणी में यह

महीने फूलती रहती थीं। जिनकी सुवास से सम्पूर्ण भवन सुगन्धित बना रहता था। इधर-उधर की क्यारियों में बड़े-बड़े फलों वाले वृक्ष लगे थे। जिनकी शाखायें भूमि पर लोट रही थीं, जिन पर सुन्दर कच्चे-पक्के फल लगे हुए थे। प्रत्येक परकोटा के भवन के भीतर एक सुन्दर स्वच्छ जल वाला सरोवर था, जिसका नीर काँच के समान चमकता था। जिसमें नाना भाँति के कमल खिल रहे थे। रंग बिरंगी मछलियाँ इधर से उधर उनमें फुदककर कमल की डालो को हिला रही थीं। हंस, सारस, कारंडवा, जलकुक्कुट तथा अन्य जल-जन्तु जिनके किनारे स्वच्छन्द होकर क्रीडा कर रहे थे। स्थान-स्थान पर मणि-मय वेदियाँ बनी थीं। जो मालती माधवी तथा मल्लिकाओं की कुन्जों से आवृत थीं। मध्य में एक-एक भ०. भवन बना हुआ था जिसके चारों ओर दालान थे। वे उतने न बहुत बड़े थे न छोटे। वे भवन कई विभागो में विभक्त थे। सब में एक बैठने उठने का बडा गृह था। जिसमें नाना प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र थे। सुवर्ण के सिंहासन रखे हुए थे, जिन पर गुद-गुदे बिछौने बिछे हुए थे। शृङ्गार की सभी सामिग्रियाँ यथा स्थान रखी थी। उससे सटा ही हुआ शयनगृह था। जिसमें हाथीदांत के पायों वाले पलंग पडे हुए थे, जिसमें अत्यन्त मृदु गद्दे बिछे हुए थे, जो दुग्ध के फेन के समान स्वच्छ सफेद चादर से ढके थे। जिन पर छोटे बड़े गोल चौकोन बहुत से ऐसे तकिये रखे हुए थे जिनका स्पर्श अत्यन्त ही सुखद था। समीप ही थूकने और कुल्ला करने के थूके हुए पात्र रखे थे, छोटे बड़े भाँति-भाँति के पंखे रखे रहते थे। वह गृह ऐसा था कि ठंडी में गरम रहता था और गरमी में शीतल रहता था। विविध प्रकार के सुगन्धित और स्निग्ध द्रव्य रखे थे। उसमें से एक प्रकार की दिव्य गन्ध

भली भाँति भगवान् में तन्मय हो जाय तो उसका बेड़ा पार ही समझो। जब महाराज को यह दृश्य प्रपञ्च मिथ्या और स्वप्न वत् प्रतीत होने लगा तब देहादि में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान को परित्याग करके अपने आप में ही स्थित हो गये। अर्थात् वे भगवान् वासुदेवमय हो गये जो सत्य स्वरूप परब्रह्म और अति-सूक्ष्म तथा अति स्थूल है जो इस सम्पूर्ण ससार में सर्वत्र व्याप्त हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज खड्वाङ्ग परम पद को प्राप्त हुए तो उनके पुत्र महाराज दीर्घबाहु राजा हुए। इन दीर्घबाहु का ही दूसरा नाम दिलीप है, इन दिलीप ही के पुत्र राजर्षि रघु हुए। ये इतने प्रतापी हुए कि इक्ष्वाकु वंश इनके अनन्तर रघुवशी कहलाने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन्! मुझे महा-राज रघु और उनके वश के मुख्य मुख्य राजाओं का चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर श्रीशुक बोले—"राजन्! अब मैं तुम्हें रघुवंश चरित्र सुनाता हूँ। आप श्रद्धा से सुने।"

छप्पय

जानी एक मुहूर्त आयु सब जग बिसरायो।
करिकें ध्यान अखण्ड परम पद नृप ने पायो॥
तिनके पुत्र दिलीप यशस्वी दीर्घबाहु वर।
सन्तति बिनु अति दुखित गये निबसें जहँ गुरुवर॥
महिषी संग सुदक्षिणा, लिये जाय गुरु पद गहे।
आशिष दै निज शिष्यतें, वचन मुदित मन गुरु कहे॥

रुचिपूर्वक किया जा सकता था।

गृह के सम्मुख ही दूर परकोटे के भीतर कामधेनु के वंश की सुन्दर लक्षण वाली, बड़े बड़े ऐन वाली मोटी ताजी निरोग गौवें बंधी थी, जो जब चाहें तभी जितना चाहें उतना दूध दे दें। उनके छोटे-छोटे बच्चे इधर से उधर फुदक रहे थे, किलोलें कर रहे थे। गौएँ बैठी जुगार कर रही था, उनके स्तनों के दूध से पृथ्वी भीगी हुई थी फल और पुष्पों से नवे हुए वृक्षों पर विविध भाँति के पक्षी बैठे हुए कलरव कर रहे थे, पिंजडों में पाले हुए सारिका आदि पालतू पक्षी मुनि के यश का गान कर रहे थे। प्रत्येक भवन में १००-१०० दास दासी सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहिने सोने के कुन्डलों से जिनके कपोल दमक रहे थे, इधर से उधर फिर रहे थे। सेविकायें सभी श्यामा थी, उनका वर्ण-सुवर्ण के समान पीत था, उनके शरीरों से सदा कमल की गन्ध निकलती रहती थी। सभी यौवन के मद मे इठलाती, नितम्ब और पीनपयोधरों के भार से नमित हुई मथरगति से चलती थीं। वे सभी विनयवती और रूपवती थी। द्वाररक्षक और अन्तपुर रक्षकों के वेषभूषा सब पृथक् थे। वृक्षों और लताओं की देख-रेख करने वाले माली बड़ी सावधानी मे सभी वृक्ष पौधों को देख रहे थे। सब भवनों में एक-एक पृथक् पूजागृह था। जिसके समीप की क्यारियों में हरी-हरी मंजरी सहित हरिप्रिया तुलसी लहरा रही थी। सभी में भगवान् की सेवा थी और सेवा के उपयोगी सभी सामग्रियाँ विपुल मात्रा में विद्यमान थीं। आमोद प्रमोद और विनोद के लिये भवन और परिष्कृत प्राङ्गण थे। जिनमें गुदगुदे गद्दे के समान हरी दूर्वा उगी थी। जिस पर पैर रखते ही सुख का अनुभव होता था। वहाँ बैठकर गायन, वाद्य और नृत्य का आनन्द लिया जा सकता था। अधिक क्या कहें इतने ही में

जिस कुल के पुरुषों को उन्होंने पिता पितामह प्रपितामह, पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र आदि कहा है। प्रभु के कौन पिता पितामह, वे तो चराचर जगत् के पिता है, सबके जनक है, किन्तु वे सम्बन्ध स्थापित न करें तो संसार में सरसता कैसे आवे। संसार का अस्तित्व न मानकर एक निर्गुण निराकार ध्यान यह देहवाला प्राणी कैसे कर सकता है। देहधारी देहधारी से ही प्रेम करेगा। प्रेम प्राय: एक योनिवालों में ही होता है, सम्बन्ध प्राय: सब जाति में ही होता है। जब तक भगवान् से सम्बन्ध न होगा—ब्रह्म सम्बन्ध संस्कार की दीक्षा न ली जायगी—तब तक भक्ति का प्राकट्य कैसे हो सकता है। सम्बन्ध तभी संभव है, जब सर्वेश्वर सर्वात्मा हमारे बीच में अवतरित हों। भगवान् का अवतार उसी कुल में होगा, जिसकी वंश परम्परा विशुद्ध हो, जिस वंश के लोग धर्म रक्षा के लिये सदा प्राण देने को उद्यत रहते हों, ऐसा विशुद्ध वंश सूर्यवंश ही है। जो पुण्य श्लोक परम प्रतापी महाराजाधिराज श्री रघु के उत्पन्न होने से रघुवंश कहाया जिसके कारण हमारे जानकी जीवन धन रघुवर, रघुनाथ रघुनन्दन, राघव, रघुकुलतिलक, रघुकुलकेतु, राघवेन्दु आदि कहलाये।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! पुण्य श्लोक राजर्षि खट्वांग के पुत्र परम यशस्वी दीर्घबाहु हुए जिनका दूसरा नाम दिलीप भी था। महाराज दिलीप का विवाह मगधनन्दिनी सुदक्षिणा देवी के साथ हुआ सुदक्षिणा को पाकर राजा उसी प्रकार प्रमुदित हुए जैसे छोटे यज्ञ में भूरि दक्षिणा पाकर ब्राह्मण प्रमुदित होते हैं। महारानी सुदक्षिणा जितनी ही सुन्दरी सुकुमारी थी उतनी ही साध्वी तथा सरल हृदय थीं। वे अपने पति को प्राणों से भी अधिक

कुमारियों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। यथार्थ में ऐसी दिव्य वस्तुएँ उन्होंने आज तक आँखों से भी न देखी थी। पृथ्वी पर ही स्वर्ग की समस्त सामग्रियों को पाकर के मुनि पत्नियाँ परम प्रमुदित हुईं। मुनि ने योगबल से अपने ५० रूप धारण कर लिये और सबके घरों में सदा रहने लगे। सभी को यही प्रतीत होता था कि मुनि मुझसे ही अत्यधिक अनुराग करते हैं, तभी तो मेरे घर को छोड़कर मेरी अन्य बहिनों के घर नहीं जाते।"

एक दिन राजा मान्धाता ने सोचा—"मैंने अपनी ५० कन्याओं का विवाह महर्षि के साथ कर दिया। चलकर देखूँ तो सही कन्यायें सुखी हैं या दुखी। यदि उन्हें धन आदि की आवश्यकता हो तो मैं यहाँ से पहुँचाया करूँगा।" यही सोचकर महाराज अपने सेवकों के सहित वृन्दावन पहुँचे। सर्वप्रथम वे अपनी बड़ी पुत्री के घर में गये। सेवकों ने समाचार दिया—"अयोध्याधिप चक्रवर्ती महाराज पधारे हैं।"

सुनते ही पत्नी के सहित मुनि ने अपने ससुर का स्वागत किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर मुनि दूसरे घर में चले गये। राजा ने अपनी पुत्री से पूछा—"बेटी! कहो, किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं, किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं।"

पुत्री ने कहा पिताजी! आपने तो हमें जीवित ही इस पृथ्वी पर ही स्वर्गीय सुखों को प्रदान कर दिया है। कोई भी मर्त्य लोक का प्राणी इतने सुखों का उपभोग नहीं कर सकता। आप के आशीर्वाद से मुझे सभी प्रकार के सुख हैं। केवल एक ही दुख है।"

पिता ने उत्सुकता के साथ पूछा—"वह कौन सा दुख है बेटी?"

राजकुमारी ने कहा—"पिता जी! जब से मैं यहाँ आई,

नाथ ! मैं भी बहुत दिनों से यही सोच रही थी, किन्तु सङ्कोच-वश कुछ कह न सकी।"

अपनी पत्नी की भी इच्छा समझ कर महाराज ने तुरन्त अपना रथ मगाया और वे रानी के सहित रथ में बैठ कर चलने लगे। उनके चलते ही आगे पीछे रक्षा के लिये विशाल सेना चली राजा ने कहा—"मेरे साथ सेना की आज कोई आवश्यकता नही। आज मैं अपने गुरुदेव के आश्रम पर जा रहा हूँ। वहाँ मैं अकेले ही जाऊँगा।"

राजा की आज्ञा पाकर सेवक लौट गये। रानी के साथ हंसते खेलते, उन्हें भाँति-भाँति के वृक्ष, फल, फूलों को दिखाते उनका परिचय कराते हुए राजा वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर पहुँचे। रथ की घरघराहट सुन कर छोटे-छोटे मुनि कुमारो ने दौड़ कर रथ को घेर लिया। कोई उछलने लगे, कोई कूकने लगे। मयूर मेघ की गड़-गड़ाहट समझ कर चिल्लाने लगे। आश्रम के मृग चकित दृष्टि से निहारने लगे, वृक्षों पर बैठे पंछी कलरव करने लगे। राजा ने प्रथम उतर कर रानी को उतारा और वे आश्रम की उटजों को निहारते हुए यज्ञ के धूएं को लक्ष करके जा रहे थे, उनके पीछे अपने वस्त्रों को सम्हालती, घूँघट में से एक आँख से निहारती हुई सुदक्षिणा उसी प्रकार चल रही थीं जिस प्रकार सायंकाल मे पुरुष के पीछे पीछे छाया चलती है।

गुरु अग्निहोत्र करके अपने शिष्यों से घिरे यज्ञ वेदी के समीप एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। राजा ने अपने बड़े बड़े विशाल हाथों की कोमल गद्दियों से जिनमें धनुष की ठेक पड़ी हुई थी उनसे—मुनि के पैर पकड़े और अपने चमचमाते हुए मणिमय मुकुट की प्रभा को उनके नख की ज्योति में मिला

अपनी प्रियाओं को प्रसन्न करते रहे। उनकी ५० पत्नियों के सब के गर्भ से १००, १०० पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार मुनि के ५ हजार पुत्र हुए। जिस कुन्ड में बैठकर मुनि तपस्या करते थे। उसका नाम अहिवास हुआ। कालिय नाम के अहि के वास करने से उसे अहिवास या कालियह्लद लोग कहने लगे।

इस पर श्री शौनक जी ने पूछा— सूतजी यह कालिय अहि कौन था, जिसके कारण उस सौभरि कुन्ड का नाम अहिवास या कालियह्लद पड़ा? कृपा करके इस कथा को आप हमें और सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—' मुनियो! यह परम पवित्र कथा है। मैं उस कथा को आपको सुनाता हूँ, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

मुनि पचास धरि वेष रमण नित सब सँग करहीं।
तप प्रभाव तें ताप व्यथा तन मन की हरहीं॥
आये नृप इक दिवस देखि वैभव विस्मित अति।
भये, सबनि ढिंग गये कहें नित इतहिँ बसहिँ पति॥
सुरपुर को सुख अवनि पै, लखि प्रमुदित नृप है गयो।
सब सुख भोगे तृप्ति हित, किन्तु तृप्ति मुनि नहिँ भये॥

उधर ही उसके पीछे-पीछे वे जाते। जहाँ खड़ी हो जाती, खड़े हो जाते। बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसे खुजाने लगते। हरी-हरी कोमल दूब उसे उखाड़-उखाड़ कर खिलाते। जब वह चर कर सायंकाल को आश्रम को लौटती तो उसके साथ-साथ लौट आते। वे एक वस्त्र से उसके मक्खी मच्छरों को उड़ाते रहते।

एक दिन नन्दिनी चरती हुई एक गहरी गुफा में चली गई वहाँ एक सिंह ने उसे पकड़ लिया। राजा ने धनुष पर बाण चलाया, किन्तु सब व्यर्थ। राजा का हाथ स्तम्भित हो गया। सिंह ने हँसते हुए राजा को मानवीय भाषा में अपना परिचय दिया कि मैं गौरीजी का मानसपुत्र हूँ, उनके वृक्ष की रक्षा के लिये यहाँ नियुक्त हूँ, जो यहाँ आ जाता है मेरा आहार हो जाता है, अब मैं इस गौ को छोड़ूँगा नहीं।" राजा ने सिंह की बहुत अनुनय विनय की, किन्तु वह माना नहीं। तब राजा ने कहा—"अच्छी बात है, तुम गौ को छोड़ दो, मुझे खा लो।" सिंह ने इस बात को स्वीकार किया। महाराज ज्यों ही सिंह के सम्मुख लेटे त्यों ही नन्दिनी हँस पड़ी। वहाँ न सिंह था न गुफा। नन्दिनी सुख से अरण्य में खड़ी थी। राजा को जब आश्चर्य चकित देखा, तब नन्दिनी बोली—"राजन् ! आज आप शापमुक्त हुए। एक बार आप स्वर्ग से अपनी राजधानी को आ रहे थे। मेरी माँ कामधेनु कल्पवृक्ष के नीचे बैठी जुगार कर रही थी, तुम्हें अपनी पत्नी के ऋतुकाल की चिन्ता थी। सुदक्षिणा का ऋतुस्नान व्यर्थ न हो यही आप सोचते जाते थे। मेरी माँ को आपने न तो प्रदक्षिणा की न उन्हें प्रणाम किया। इसीलिये उन्होने तुम्हें शाप दिया था, कि जब तक मेरे वंश की सेवा न करोगे तब तक तुम्हारे कोई सन्तान न होगी

लिये-विवश हैं और दुष्ट लोग दुष्टता किये बिना नहीं रह सकते इसीलिये स्वभाव को संसार में दुस्त्यज बताया है। मुनिगण हिंसक क्रूर प्राणियों के साथ भी दया का बर्ताव करते है और साधुगण दुष्टों के साथ भी दया का बर्ताव करते है। इस विषय में एक कहानी है। कोई महात्मा गंगा स्नान कर रहे थे। स्नान करते समय उन्होंने देखा एक बिच्छू चला जा रहा है। महात्मा ने सोचा यदि यह इसी प्रकार बहता रहा और प्रवाह में पड़ गया, तो अवश्य मर जायगा। इसका उद्धार करना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने हाथ की अंजुलि मे उसे जल सहित उठा लिया। ज्यों ही वह स्वस्थ हुआ कि फट से उसने महात्मा की उंगली मे डंक मार दिया। उन्होंने पीड़ा से ज्योंही हाथ को हिलाया त्योंही वह पुनः प्रवाह मे गिर पड़ा अब मुनि अपना दुख तो भूल गये उसे बहते देखकर पुनः दयावश उठा लिया फिर उसने काट लिया। इस प्रकार कई बार उन्होंने उठाया और कई बार उसने काट लिया। उसी समय एक व्याधा वहाँ पानी पीने आया था। यह देखकर उसने कहा—"महात्माजी! आप यह क्या कर रहे है। कहीं दुष्टों पर भी दया की जाती है। देखिये आप तो उसे दया वश बार-बार निकालते है और यह दुष्ट बार-बार आपको काट लेता है। बह जाने दीजिये दुष्ट को। बाहर रहेगा तो किसी यात्री को काटेगा।"

महात्मा जी ने कहा—"भैया! देखो यह बिच्छू मेरा गुरु है। यह मुझे शिक्षा दे रहा है कि जब मैं अपने दुष्टता के स्वभाव को नहीं छोड़ता, तो तुम अपने साधुता के स्वभाव को भी मत छोड़ो। वह अपने स्वभाव से विवश है, मै अपने स्वभाव से।"

व्याधा ने कहा—"अच्छी बात है अबके आप जल सहित शीघ्रता से किनारे पर रख दीजिये।" साधु ने ऐसा ही किया।

न दिखाते। वे इतने यशस्वी थे, कि उनके यश के सम्मुख समस्त रंग फीके पड़ गये। तीनों भुवन इनकी यश की शुभ्रता से शुभ्र हो गये। वे इतने तेजस्वी थे, कि सूर्यदेव उनके महल के मार्ग को बचाकर ही खिसक जाते। उनकी दृष्टि को बचा कर ही अस्ताचल की ओर चल जाते। वे इतने धर्मात्मा थे कि बड़े बड़े धर्म प्राण मुनि भी उनकी धर्म निष्ठा के सम्मुख नत मस्तक हो जाते। वे इतने उदार थे, कि कुबेर भी उनसे भयभीत हो जाते, वे इतने यज्ञप्रिय थे, कि हवि-खाते खाते अग्नि को भी अजीर्ण हो गया। अश्विनी कुमारों की सम्पूर्ण पाचन की औषधियाँ समाप्त प्रायः हो गई। वे इतने दानी थे, कि अपना सर्वस्व दान करके भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। तभी तो आज रघुवंश संसार में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। उनके दान के सम्बन्ध की पुराणों में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है।

जिन दिनों महाराज रघु अयोध्या पुरी में राज्य करते थे, उन्हीं दिनों वरतन्तु नामक महर्षि अरण्य में रहकर यज्ञयागादि पुण्य कर्म किया करते थे। महर्षि के समीप बहुत से शिष्य अध्ययन करने आया करते थे। उन्हीं शिष्यों में से एक कौत्स नामक शिष्य थे। कौत्स मुनि बड़े ही सदाचारी गुरुभक्त तथा शील सम्पन्न थे। उनकी गुरु सेवा से महर्षि वरतन्तु अत्यन्त ही सन्तुष्ट थे। जब वे अपनी विद्या समाप्त कर चुके तब उन्होंने गुरु से गुरु दक्षिणा के लिए प्रार्थना की।

गुरु ने कहा—"भैया, तूने हमारी मन लगा कर सेवा की है, यही तेरी गुरु दक्षिणा पर्याप्त है तू एक गौ देकर नियमानुसार विवाह करके गृहस्थी हो जा और गुरु दक्षिणा की आवश्यकता नहीं।"

उनमें से मुख्य-मुख्य नाग ब्रह्माजी के समीप गये और अपना सब दुख कह सुनाया।

नागों की सब बात सुनकर ब्रह्माजी ने गरुड जी को बुलाया और कहा—"हे विनतानन्दन! तुम इन नागो को व्यर्थ ही क्यों मारते हो?"

गरुड़जी ने कहा—"महाराज! आपने ही मुझे यह आहार प्रदान किया है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई! जितने से काम चल सके जिनमे शरीर निर्वाह हो सके उतने में दोष नही तुम नित्य बहुतों को खा जाते हो, बहुतों को मार कर वैसे ही फेंक आते हो, इस प्रकार अपव्यय करने से इनके वंश का भी नाश हो जायगा और आगे से तुम्हे आहार भी न मिलेगा। प्राणियो को मितव्ययता से कार्य करना चाहिये।"

गरुड़जी ने कहा—"महाराज! जैसे आप कहें वैसे करूं। जब मैं पकड़ने जाता हूँ तो कुछ नाग डर कर भागते हैं, कुछ पंजों से बचते हैं, दोनों ओर से प्रहार होता है, कुछ मरते हैं, कुछ के अङ्ग क्षत विक्षत होते है, कुछ व्यर्थ ही मर जाते हैं। मेरा इसमें क्या दोष?"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भाई! नित्य का यह झगडा-टंटा उचित नही। तुम लोग आपस में, सन्धि कर लो।"

नागों ने कहा—"महाराज! आप ही हमारे पंच हैं, आप जो निर्णय कर देंगे, वही हम सबको सहर्ष स्वीकार होगा।"

ब्रह्माजी बोले—"अच्छा, देखो भाई! नित्य की मार-काट उचित नहीं, अमावस्या के दिन आप लोगों में से एक परिवार एक निर्दिष्ट पेड़ के नीचे आकर बैठ जाया करे, गरुड़जी उन्हें ही खाकर चले आया करेंगे। अन्य नागों से छेड़-छाड़ न

उन्हीं दिनों महाराज रघु ने विश्वजित नाम का यज्ञ किया था। उसमें उन्होंने अपना सर्वस्व दानकर दिया था। यहाँ तक कि अपने वस्त्र आभूषण, धातुओं के पात्र भी ब्राह्मणों को दे दिये थे। अब वे मिट्टी के पात्रों में ही खाते थे। भूमि पर सोते थे। जब कौत्स मुनि गये तब राजा ने मिट्टी के पात्र से उनके पैर धोये और कुशासन पर बिठाकर सत्कार किया।

राजा ने बड़े आदर से कहा—"ब्रह्मन् ! आप कहाँ से पधारे?"

कौत्स बोले—"राजन् ! मैं भगवान् वरतन्तु के आश्रम से आ रहा हूँ, उन्हीं का मैं शिष्य हूँ।"

अत्यन्त ही आह्लाद के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा अहोभाग्य ! धन्यवाद ! धन्यवाद ? जो आपने मेरे ऊपर कृपा की। भगवान् वरतन्तु मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते हैं। कहिये, आश्रम में सब कुशल है न ? आपके आसपास निन्नी के चावल श्रेष्ठ होते हैं न ? मुनियों को वह अन्न बड़ा मीठा होता है। बिना जोते बोये वे चावल आपसे आप उत्पन्न होते हैं, हल बैलों से पृथिवी जोती नहीं जाती, जल के समीप यह मुनि अन्न स्वतः होता है। जिन मुनियों के पुत्र नहीं होते,वे वृक्षों का पालन पुत्रों के समान करते हैं। मैंने भगवान् वरतन्तु का आश्रम देखा था उन्होने थालें बना बनाकर बहुत से वृक्ष लगाये थे। अब तो वे बड़े हो गये होंगे ? उन पर फल भी आने लगे होंगे। मुनियों के आश्रम में मृग स्वच्छन्द विहार करते हैं। आपके मृगों को कोई बाधा तो नहीं देता। आपके आश्रम में बड़े बड़े सघन वृक्ष हैं न ? जिनके नीचे पथिक बैठकर अपना श्रम दूर कर सकें। आपके आश्रम में जल की कमी तो नहीं ? गंगाजी की धारा दूर तो नहीं चली गई ? लतायें यथेष्ट फूल देती है न ? अतिथियों

भरे ही हुए थे उन्होंने उस अविनीत अहि को मारने के निमित्त उस पर बड़े वेग से आक्रमण किया।

कालिय भी सावधान था, उसने भी गरुणजी को अपनी

ओर वेग से आते हुए देखकर अपने विष भरे दांतों से उन पर प्रहार किया। उसके सहस्रफण थे। वह यौवन के मद में मदोन्मत्त हुआ गरुड़जी को कुछ समझता ही नहीं था। अपनी दो सहस्र

सकता। रघु के सम्मुख याचना करने वालों को फिर अन्यके यहां याचना करने की आवश्यकता नहीं।"

कौत्स ने आश्चर्य के साथ कहा—"राजन्! आप इतना द्रव्य कहाँ से देंगे?"

राजाने कहा--"जहां से भी शीघ्र मिल सकेगा वहीं से दूँगा।"

कौत्सने कहा—"शीघ्र तो कुबेर के भंडार से इतना सुवर्ण मिल सकता है।"

राजा बोले—"अच्छी बात है, कुबेर पर ही चढ़ाई करूँगा। आप एक दिन विश्राम तो करें।"

राजा के आग्रह को मुनि टाल न सके। वे अग्नि होत्रशाला में चतुर्थ अग्नि के समान पूजित होकर सुख पूर्वक रहे। राजा ने कुबेर पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। धन कुबेर रघु के यश पराक्रम से पहिले से ही शंकित थे। जब उन्होंने उनके संकल्पको जाना, तब तो वे डर गये। चुपके से रात्रि में वे उनके कोष को सुवर्ण से भर गये। प्रातःकाल ज्यों ही उन्होंने अपना रथ तैयार किया, त्यों ही सचिवों ने सूचना दी, कि सुवर्ण से सम्पूर्ण कोष भरा पड़ा है। राजा यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"समस्त सुवर्ण को ऊँटों पर, छकड़ों में लदवाकर मुनि के साथ भिजवा दो।"

कौत्स उस अटूट सुवर्ण की राशि को देखकर डर गये और आग्रह पूर्वक बोले—"राजन्! मैं इतने धन को कभी न लूँगा। इतना सुवर्ण लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो १४ करोड़ सुवर्ण-मुद्रायें ही चाहिए।"

वंशज विशेष यात्रा करते हैं और वहाँ जाकर पूजन करते हैं। कई युगों तक कालियनाग वहाँ रहा, अंत में तो उसके अत्याचार इतने बढ गये, कि वह ह्रद जीवों के लिये अगम्य बन गया, वहाँ एक कदम्ब को छोडकर अन्य कोई वृक्ष भी शेष नहीं रहा। उस जल के समीप कोई जीव जाता ही नहीं था। इस अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में जब साक्षात् पुराण पुरुष श्रीकृष्ण अवनि पर अवतरित हुए और गोचारण के निमित्त वहाँ गये, तब उन्होंने उस कुन्ड से उस नाग को निर्वासित किया। उसकी कथा दशम स्कन्ध के प्रसंग में श्रीकृष्ण लीला के अवसर पर यथास्थान वर्णन की जायगी।

इस प्रकार सौभरि ऋषि की कृपा से कालियनाग गरुड़जी का प्रहार होते-होते बचा। पीछे श्रीकृष्ण की चरण धूलि मस्तक पर पडने से तो वह अजर अमर हो ही गया। और फिर उनके चरण चिन्हों को अपने फणों पर धारण करके पुन: रमणक द्वीप में लौट गया। भगवान् के चरण चिन्हों को चीन्हकर गरुड़जी का पुन: उसके ऊपर प्रहार करने का साहस नहीं हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् सौभरि उन राजकुमारियों के साथ ५० रूप रखकर बड़े आनन्द के साथ गृहस्थ सुख का अनुभव करते रहे। उन्हें तपस्या के प्रभाव से किसी वस्तु की कमी नहीं थी।

मुनि के निवास से उस स्थान का नाम सौभरि स्थान भी हुआ। वहाँ सौभरेश्वर शिवजी भी हैं। जहाँ अकेले मुनि तपस्या करते थे, वहाँ अब नगर बस गया। जहाँ एक स्त्री पुरुष से मुनि घबराते थे, वहाँ पाँच हजार तो उनके पुत्र ही हो गये। अब तो परिवार बढ़ने लगा। किच्च-पिच्च आरम्भ हुई। दस बर्तन जहाँ

समझा। उसके निर्णय को निन्दित माना किन्तु अज के सम्मुख वे कुछ कह न सके। अज और इन्दुमती उसी प्रकार मिल गये जैसे हिमालय के घर शिवपार्वती मिल गये थे।

दूर्वा के धागे मे महुए के पुष्पों की गुथी माला के साथ अपना हृदय भी इन्दुमती ने अज को अर्पित किया। अज के वक्षस्थल में पडी वह जयमाल उसी प्रकार हिल रही थी, जिस प्रकार नववर का हृदय प्रथम मिलन में हिलता है। उस समय लजाती हुई इन्दुमती के साथ जाते हुये कुमार उसी प्रकार शोभित होते थे मानो लज्जा के साथ कामदेव कहीं जा रहा हो। इन्दुमती इतनी सुन्दर थी कि अज ने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया था। उसके सौंदर्य को देखकर सुर सुन्दरियाँ भी सकुचा जाती थीं। वह अपने पति को इतना प्यार करती थी, कि उनके बिना एक क्षण भी उसे असह्य हो उठता।

जब अज ने आकर इन्दुमती के सहित अपने पिता को प्रणाम किया, तो इन्दुमती को महाराज ने पुत्रवती होने का वर दिया और मुँह दिखाई मे अपना सम्पूर्ण राज पाट और कोष उसे दे दिया। इस प्रकार मानों अपनी पुत्रवधू को ही पृथिवी देकर रघु तपस्या करने वन मे चले गये।

इन्दुमती ने कहा—"भरण करने से पति का नाम भर्ता भी है। आप जैसे मेरा भरण पोषण करते हैं। वैसे ही मेरी सखी इस पृथिवी का भी पालन कीजिये। मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। मेरे तो एकमात्र धन आप ही हैं।"

अज ने कहा—"प्रिये ! मुझे पृथिवी पालने में कोई रस नहीं

सौभरि ऋषि का वैराग्य

[६३२]

अहो इमं पश्यत मे विनाशम्,
तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्-
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ६ म० ५० श्लो०)

छप्पय

स्वस्थ चित्त इक दिवस बैठि मुनि सोचें मन महँ ।
हाय पतन मम भयो रहूँ मुनि हैं महलनि महँ ॥
तजि के सब जन संग सलिल महँ ध्यान लगायो ।
ठग्यो तहाँ हू दैव मत्स्य संभोग दिखायो ॥
मिथुन धर्म महँ निरत नर-नारी को जे सँग करैं ।
ते पुनि जनमें पुनि मरैं, स्वरग जाहिं नरकनि परैं ॥

एक कहावत है, प्रातः का भूला सायंकाल तक घर में लौट

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गृहस्थी के चक्र में फँसे महर्षि सौभरि सोचने लगे—"हाय ! मेरा अधःपतन तो देखिये । कहाँ तो मैं सदाचार व्रत का पालन करने वाला तपस्वी था, कहाँ मैं जल-चर जन्तु का प्रासक्तिपूर्वक संग करने से इतना च्युत हो गया कि चिर-काल से धारण किये ब्रह्म तेज को भूल गया ।"

का अन्तर नहीं पड़ा। यही नहीं वह उसी प्रकार और भी अधिक वढ गया, जिस प्रकार विदेश मे गये पति के लौटने पर पतिप्राणा का प्रेम और भी अधिक वढ़ जाता है। महाराज रात्रि दिन इन्दुमती को ही सोचते रहते थे। एक दिन वे अपनी प्रिया के साथ उपवनों में विहार कर रहे थे वे एक सुन्दर रमणीक स्थान मे सुख पूर्वक वैठकर अपनी प्रिया के साथ मधु से भी मधुर स्नेह से सिक्त आनन्द में पगी, अनुराग में भीगी, सरसता में सनी वातें कर रहे थे, कि उसी समय रामकृष्ण गुण गाते, संसारी जीवों को सुख का पाठ पढ़ाते, अपनी स्वर ब्रह्म विभूषिता वीणा को वजाते देवर्षि नारद वहाँ जा पहुँचे। उनकी वीणा के ऊपर कल्प वृक्ष के पुष्पों की माला टँगी हुई थी। राजा ने उठकर मुनि के पैर छूए, रानी ने मुनि की चरण वन्दना की। सहसा वीणाकी माला इन्दुमती के कमल से भी कोमल वदन से छू गई, ज्यों ही उसने दृष्टि उठा कर उस माला को देखा त्यों ही वह प्राणहीन होकर धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़ी, अपनी प्राणप्रिया को ऐसी दशा देख कर महाराज अज भी मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ काल में मूर्छा भङ्ग होने पर उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के अङ्ग को प्राणहीनावस्था में देखा, वह ऐसी लगती थी, मानों कमलिनी को किसी ने मसल दिया हो। राजा उसे मृतक देख कर पुनः मूर्छित हो गये और भाँति-भाँति से विलाप करने लगे। उसके मृतक शरीर को गोद में रख कर राजा बच्चों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। सभी सेवक, सचिव, सामन्त तथा सगे सम्बन्धी एकत्रित हो गये। रानी की मृत्यु से सब को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु कोई कर ही क्या सकता था। काल के आगे किसकी चलती है। अन्त में सब ने रानी का दाह संस्कार किया। राजा इन्दुमती के वियोग में सदा दुखी वने रहते थे।

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! पुष्प के छू जाने

पुनः मिश्री प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करेगा। निस्सङ्गता यतियों के लिये मुक्ति देने वाली बताई गई है। संसारी लोगों का संग करने से उन्हीं की सी बुद्धि हो जाती है, उन्हीं के से आचरण करने की इच्छा हो जाती है। विषयासक्ति ऐसी प्रबल है कि योगारूढ़ पुरुष भी इनमें फँस जाता है, फिर साधारण लोगों की तो बात ही पृथक् है। देखिये; महर्षि सौभरि विषयों से कितना दूर रहकर एकान्त में तप करते थे। जल के भीतर समाधि लगाते थे। उस दाम्पत्य धर्म में निरत मत्स्यराज की क्रीड़ा को आसक्ति पूर्वक देखने से ही मुनि के चित्त में चंचलता उत्पन्न हुई विषयों के रसस्वाद की इच्छा उत्पन्न हुई और वे एक से पाँच हजार पुत्रों वाले बन गये। कैसा भी जितेन्द्रिय हो, कामियों की कामक्रीड़ाओं को देखकर कामिनियों के कमलमुख को कामनासहित निहारकर उसके भी चित्त में विकृति उत्पन्न हो जाती है। अपने उत्पत्ति स्थान में अधिकाधिक आसक्ति होना, यह जीव का स्वभाव है, जो आसक्तिरहित होकर स्त्री-पुरुष जन्य भेद-भाव को भूलकर सर्वत्र भगवान् को ही देखता है, वह इस भव बन्धन से छूट जाता है।

जब महामुनि सौभरि ने देखा, मेरा तप नित्यप्रति विषयों के उपभोग से क्षीण हो रहा है, और अब पहिले जैसा तप, तेज प्रभाव नहीं रहा, तो उनको विषयों से विरति हुई। एक दिन वे अपनी पत्नियों के अन्तपुर को छोड़कर यमुना के पुण्य पुलिन में कदम्ब की सघन छाया में सुनसान वन में जाकर बैठ गये। प्रकृति स्तब्ध थी पक्षियों ने कलरव करना बन्द कर दिया, यमुना अपनी मन्थर गति से बह रही थी। मुनि ने बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों को स्थिर किया और फिर वे अपनी पूर्व की बातों को सोचने लगे। चित्त के समाहित होते ही वे इस कोलाहलपूर्ण

सूतजी कहते है – "मुनियों ! उसी हरिणीने शाप वश विदर्भ वंश मे जन्म लिया, वही महाराज अजकी पत्नी इन्दुमती थी। आज नारद जी की वीणा के ऊपर कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला देखते ही वह मानवीय शरीर को त्यागकर स्वर्ग सिधार गई। रानी के मरने से राजा को जीने की तनिक भी इच्छा नही रही। फिर लोकलाज वंश कर्तव्य पालन की दृष्टि से वे जीते रहे। अब वे सदा उदास ही बने रहते थे। दशरथ के मुखको देख-देखकर वे निरन्तर इन्दुमती की स्मृति में रोते रहते। स्वप्न में उसका साक्षात्कार करके बडे प्रसन्न होते। इस प्रकार पिता के संरक्षण मे दशरथ बढ़ने लगे। कुछ काल मे ही बाल्यावस्था त्यागकर चली गई। अब युवावस्था ने उनके शरीर पर अधिकार स्थापित कर लिया पुत्र को युवावस्था में पदार्पण करते देख कर जो राजभार उन्हे यथार्थ में भार प्रतीत हो रहा था, उसे कुमार दशरथ के कोमल कंधोंपर शीघ्रता से डालकर वे सरयू के किनारे किनारे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ जाकर सरयू भगवती भागीरथी मे मिलती हैं। वही रहकर और अनशन व्रत करके महाराज अजने अपने इस पाँचभौतिक शरीर को त्याग दिया।"

पिता के परलोक पधारने के अनंतर महाराज दशरथ समस्त प्रजा का पुत्रवद् पालन करने लगे। उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त हो गई। उन्होंने दिग्विजय करके समस्त जीती हुई पृथिवी को पुनः जीत लिया। उन्हे राजा पाकर प्रजा पहिले राजाओं को भूल गई।

सूतजी कहते हैं—' मुनियों ! इन्ही पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ श्री राम अवतरित हुए। अब आप श्रीराम चरित्र को श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण करें।"

जाय। मल द्वारों से जो अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त विष्ठा मूत्र निकलता है उसे देखकर स्वयं अपने आपको भी घृणा होती है। स्त्री या पुरुष के अंग में रक्त और मांस आदि अशुद्ध अपवित्र वस्तुओं के अतिरिक्त है ही क्या। जिस रज वीर्य से यह देह बनता है, यदि वह देह से पृथक् हो जाय तो उनकी ओर देखा भी न जाय, जिस वस्त्र में लग जाय उसे पहिनने वाले को छूना भी महापाप है। उसी शरीर के साथ संग करके जो सुख का अनुभव करता है, उसमें और घाव के कीड़े में क्या अन्तर है। घाव का कीड़ा तो रक्त पीव और मांस में कुल बुलाता रहता है, उसमें रमण करता है।

मेरा प्रारब्ध तो देखो, जिस ब्रह्म तेज को मैंने कठोर-कठोर व्रत उपवास तथा नियमादि से बड़ी कठिनता से प्राप्त किया था वह एक मैथुन धर्मी मत्स्य के संग से विनष्ट हो गया। मैं योगी से भोगी बन गया, विरागी से रागी हो गया, त्यागी से गृही हो गया। मेरा सर्वस्व लुट गया। मैं अपने लक्ष्य से च्युत हो गया।

मुनि सोचने लगे—"मेरे पतन का कारण क्या था। वही दाम्पत्यधर्म में निरत मत्स्यराज का आसक्ति पूर्वक दर्शन। यदि मैं उसे उसकी स्त्री के साथ आमोद करते हुए ध्यान पूर्वक चिरकाल तक न देखता तो मेरी यह दुर्दशा कभी न होती इसीलिये ऋषि महर्षि ने पूर्वाचार्यों ने इस बात पर बार-बार बल दिया है कि कामियों और कामिनियों का सहवास सर्वथा त्याज्य है, इनसे तो उतना ही प्रयोजन रखना चाहिये, जितने के बिना जीवन निर्वाह हो सके। नहीं तो मौन व्रत धारण करके सदा भगवद् भजन में सत्कर्मों में लगे रहना चाहिये। अपनी इन्द्रियों को भूलकर भी वहिर्मुख न होने देना चाहिये। सदा

श्रीराघवेन्दु का प्रादुर्भाव

(६५०)

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्राथितः सुरैः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ०, २ श्लोक)

छप्पय

सब सुख नृपके निकट पुत्र बिनु परि अति चिंतित ।
रानी सब सुत रहित वंशधर बिनु अतिदुःखित ॥
विनती गुरु तै करी रचायो मख सुतके हित ॥
ऋष्य शृङ्ग पुत्रेष्टि यज्ञ करवायो प्रमुदित ॥
बढ्यो भूमि को भार बहु,सुर सब मिलि हरिढिंग गये ।
सेतु करन भव उदधि पै, अज अच्युत प्रकटित भये ॥

यह संसार सागर अगाध है, इसकी थाह नहीं । पार जाने का कोई निश्चित एक मार्ग नहीं । जीवका पुरुषार्थ स्वल्प है । इसका सर्वज्ञ स्वामी उसपार बैठा बैठा हँस रहा है ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन महाराज दशरथ के यहाँ देवताओं की प्रार्थनापर साक्षात् ब्रह्मय श्रीहरि अंशांश से चार रूपों से अवतरित हुए ।"

छप्पय

रहे सदा निस्संग चित्त, श्रीहरि, महँ राखे।
बाणी, संयम करे, व्यरथ तनिकहु नहिं भाखे॥
साधु संग ही करै कथा कीर्तन महँ जावै।
नहिं तो है चुपचाप ध्यान एकान्त लगावै॥
नर फँसि के निकसत नहीं, मायिक गुण हैं प्रबल अति।
इत उत भटकै लोभ वश, होवै नहिं जग विमल मति॥

होगा। वे ऐसा करने को विवश थे, क्योंकि उन्हें ७ दिनों में ही सब कथा सुनानी थी। सब शास्त्रों का सार सार निकाल कर उन्होंने सबकी बानगी राजा को चखाई और सबका पर्यवसान अन्त में कृष्ण कथा में कर दिया। किन्तु सूतजी ! हमें तो कोई समय का बन्धन नहीं। हमतो दीर्घजीवी हैं। अवतार कथा ही हमारा आहार है। उसे ही खाकर हम जीते हैं। सूर्यवंश के राजाओं की नीरस कथायें हमने चुपचाप इसीलिये सुनली कि इनका सार अन्त में निकलेगा। नही तो सूतजी ! उस राजा को यह रानी हुई वह राजा उस राजकुमारी पर आसक्त हो गया। उसने स्वयम्बर में उसे माला पहिना दी, उसने युद्ध में उसे मार दिया। वह अप्सरा इतनी सुन्दर थी। उस मुनिने यह गड़बड़ सड़बड़ कर दी। उस राजा का यह पुत्र हुआ, यह पौत्र हुआ इन व्यर्थ की बातों से हम त्यागी विरागी साधुओं को क्या प्रयोजन? अजी हमतो भगवान् का प्रेम पूर्वक प्रसाद पाते हैं और भगवान् के नाम तथा यश का श्रवण और गायन करते हैं। हमारा तो मूल मन्त्र है।

"भगवद् भजन पेट को धंधो। और करै सो पूरो अंधो।' मनु से लेकर दशरथ तक के राजाओं की कथा हमने इसी आशा से सुनी कि आगे इसी वंश में मर्यादा पालक जन सुखदायक रविकुल नायक भगवान् कौशल किशोर उत्पन्न होंगे। उनके चरित्र को हम श्रद्धा सहित सुनेंगे। सो, सूतजी ! राम चरित्र कहने में आप कृपणता न करें। रामचरित्र को हमें विस्तार के साथ सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी के रोम रोम खिल गये। उनका गला भर आया। "राम" इन दो शब्दों में कितनी मिठास है, कितनी

वस्त्र स्वभाव से स्वच्छ है उसमें मल शनैः-शनै प्रवेश करता है। मल आता हुआ दिखाई नहीं देता। किन्तु इन वस्तुओं के संग और स्पर्श से वस्त्र मैला हो ही जाता है। यदि उसे मल-नाशक द्रव्यों से धो दिया जाय, तो वह फिर ज्यों का त्यों स्वच्छ हो जाय। इसी प्रकार जीव तो ब्रह्म का अंश ही है। अंश में और अंशी में कोई भेद नहीं। विषयों के संसर्ग से इस

जीव पर माया का पर्दा-सा पड जाता है। अविद्या के कारण वह अपने को माया के गुणों से आबद्ध-सा अनुभव करने लगता है। जहाँ विवेक वैराग्य के द्वारा इन गुणों की अनित्यता प्रतीत होने लगी, तहाँ वह शुद्ध का शुद्ध ही है। पैर में यदि कीचड़ लग जाय

अच्छी बात है, तो अब श्रीराम के प्रादुर्भाव की आप कथा श्रवण करें।"

अज पुत्र महाराज दशरथ इतने पराक्रमी थे, वे देवासुर संग्राम मे अमरों ने आकर उनके पैर पकडे और असुरो से युद्ध करने की याचना की। रघुवंश विभूषण महाराज दशरथ ने देवों की प्रार्थना पर असुरों से युद्ध किया, उन्हें परास्त किया उनकी स्त्रियों की माँग मे भरे सिंदूर को पोंछ दिया, उनके बालों को खुलवा दिया और उनके ऐश्वर्य को फीका बना दिया।

महाराज का विवाह दक्षिण कोशल देश के राजा की कन्या कौशल्या के साथ हुआ। दूसरा विवाह कैकय देश के राजा की पुत्री कैयथी से हुआ। तीसरी उनकी पत्नी सुमित्रा थी। इस प्रकार महाराज के तीन प्रधान रानी तथा अनेक उपरानियाँ भी थीं महाराज पृथिवी पर दूसरे इन्द्र के समान निवास करते थे। उनके अवध के वैभव को देखकर शतक्रतु इन्द्र भी लज्जित हो जाते। उनके अन्तःपुर की शोभा को देखकर सुर ललनायें भी सकुचा जाती। उनकी सेना को देखकर स्वामिकार्तिकेय भी चकित हो जाते, उनके कोष को निहार कर कुबेर भी कंपित हो जाते। वे कल्प वृक्ष के समान सबके मनोरथों को पूर्ण करते कामधेनु के समान सभी को समस्त सामग्रियाँ देते, लोकपालों के समान प्रजा का पालन करते, प्रजापति के समान सबको प्यार करते। उनका जैसा ही ऐश्वर्य था वैसा ही तेज और पराक्रम भी था। उन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणों और याचकों को यथेष्ट दान दिये। इस प्रकार महाराज सहस्रों वर्षों तक पृथिवी का पालन करते रहे।

प्रजा का पालन करते-करते महाराज की युवावस्था प्रस्थान

मन के मानने के ऊपर है। जो स्त्री अब तक प्राणों से भी अधिक प्रिय प्रतीत होती थी, वही यदि अपने प्रतिकूल हो जाय, अनुचित हठ पर अड़ जाय, तो डाइन-सी लगने लगती है। जो विषय मुनि को कल तक परम सुखकर प्रतीत होते थे, वे आज उन्हें काटने को दौड रहे थे। गुदगुदा गद्दा जलता हुआ प्रतीत होता था, सुख वैभव की समग्र सामग्रियाँ मुनि की दृष्टि में विष उगलने वाली दिखाई दे रही थीं। जैसे तैसे उन्होंने रात्रि काटी। प्रातः काल हुआ। उन्होंने अपनी सभी पत्नियों और पुत्रों को बुलाया सबको गृहस्थ का धर्म समझाया। फिर अपना पुराना कमण्डलु उठाया और बोले—"अब तुम लोग जानों और तुम्हारा काम जानें। मेरा तो सांसारिक विषयों से पेट भर गया। अब तुम सुख से रहना, मैं तो अब वन में जाता हूँ।"

मुनि पत्नियों ने कहा—"प्राणनाथ! हमारी तो एकमात्र गति आप ही हैं, हमें आप अपने से पृथक् क्यों समझ रहे हैं?"

मुनि ने कहा—"तुम सब अपने पुत्रों के साथ रहो। मैं तो अकेला ही अरण्य को जाऊँगा।"

रोते-रोते मुनिपत्नियों ने कहा—"हे जीवन धन! हमारा पुत्रों से क्या सम्बन्ध! स्त्रियों के पति ही देवता हैं, पति ही इष्ट हैं, पति सर्वस्व है। आपके जो भी भगवान् हों, उनसे हमें कोई प्रयोजन नहीं। हमारे तो आप ही प्रत्यक्ष परमेश्वर हैं। जैसे छाया शरीर से पृथक् नहीं रह सकती, वैसे ही हम आपके बिना यहाँ सुनरख में एक क्षण भी नहीं रह सकतीं।"

मुनि ने कहा—"देखो, तुम राज पुत्री हो, तुमने पिता के घर में भी सुख भोगे हैं, सुख में ही तुम पली पोसी हो, यहाँ भी आते ही तुमने स्वर्गीय दिव्य सुखों का उपभोग किया है। अरण्य में तो बड़े-बड़े कष्ट हैं, वल्कल वस्त्र पहिनने पड़ेंगे, कड़वे कसैले

फिर अपने समीप ही चरण सेवा करती हुई आद्याशक्ति महा-माया महालक्ष्मीजी से महाविष्णु सनातन पुराण पुरुष बोले--"प्रिये ! मेरी इच्छा अब कुछ काल नर लीला करने की है, तुम यहीं तब तक अपने पिता समुद्र के घर रहो।"

महालक्ष्मी आद्याशक्ति भगवती जगदम्बिका बोलीं-"अजी महाराज ! आप नर बनेंगे तो मैं नारी बनूँगी। बताइये ! मनुष्य योनि तो सभी योनियों में श्रेष्ठ है। आप उसमें लीला करें और मैं देखूँ ? नहीं यह कैसे होगा। छाया कभी शरीर से पृथक् हो सकती है।"

प्रभु बोले-"अच्छी बात है,तुम मिथिला में जाकर अवतरित हो। मैं अवध में पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ उनकी भाग्यवती पत्नी कौशिल्या के गर्भ से उत्पन्न हूँगा। वे धर्मात्मा राजा आजकल पुत्र की कामना से एक पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे हैं, मैं उनकी इच्छा पूरी करूँगा। स्वयं यज्ञ पुरुष मैं उनके यहाँ पुत्र बनकर प्रकटित हूँगा।"

भगवती जगदम्बिका बोली--"मैं तो पृथिवी की पुत्री बनूँगी अयोनिजा होकर अवनिपर अवतरित होऊँगी।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, पहिले मैं चलता हूँ पीछे तुम आ जाना।"

उसी समय चक्रवर्ती महाराज दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ। समाप्ति के समय साक्षात् हव्य वाहन अग्निदेव एक सुवर्ण पात्र में पायस लेकर प्रकट हुए। उन्होंने उस खीर पात्र को राजा को देते हुए कहा—' इसे अपनी पत्नियों में यथा-योग्य बाँट दो। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।"

ग्रहण किया इसका उपभोग किया। अब जब आप इन्हें त्याग कर जा रहे हैं, तो हमारे लिये ये विष के समान हैं। हम इनका स्पर्श न करेंगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपनी पत्नियों का ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर मुनि ने उन्हें साथ चलने की अनुमति दे दी।

महाराज मान्धाता की उन पुत्रियों ने पति की आज्ञा पाते ही अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये और वल्कल वस्त्र पहिनकर मुनि के पीछे-पीछे उसी प्रकार चलीं जैसे वन में यूथपति के पीछे हथिनियाँ चलती हैं। वन में जाकर मुनि ने घोर तपस्या आरम्भ कर दी। विषयों के भोग से अपने पुष्ट शरीर को निराहार या स्वल्पाहार से सुखा दिया। अब वे आत्मचिन्तन में ही निरन्तर निमग्न रहने लगे। उनकी सब पत्नियाँ भी पति की सेवाशुश्रूषा करती हुईं उनकी आज्ञा से तप करने लगीं। मुनि तो आत्मज्ञानी पहले ही से थे, उन्हें कुछ करना तो था ही नहीं। केवल स्मृति मात्र करनी थी। इसलिये कुछ ही काल में उनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया। अब उन्होंने आहवनीय आदि वैदिक अग्नियों को अपने आप में लीन कर लिया। अर्थात् अब वे निरग्नि हो गये। तदनतर उन्होंने अपने आप को परमात्मा में लीन कर दिया।"

अपने पति को ब्रह्मलीन हुआ समझकर उन मुनि पत्नियों ने भी उनके पदचिन्हों का अनुसरण किया। वे भी उनके पथ की अनुगामिनी हुईं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् यह मैंने यौवनाश्व महाराज मान्धाता की पचास पुत्रियों के प्रसंग में परमर्षि भगवान् सौभरि के चरित्र को आप से कहा, अब आप महाराज मान्धाता के वंश का वर्णन सुनिये।"

उन्ही से दिलवाने की उनकी इच्छा थी। कौशल्या ने अपने भाग से सुमित्राजी को दिया। कैकेयी ने भी उन्हे दिया। इस प्रकार तीनों रानियो ने उस दिव्य अमृतोपम पायस को पति की आज्ञासे प्रेम पूर्वक पा लिया। उसे पाते ही तीनो रानियाँ गर्भवती हो गई। उन तीनो का गर्भ शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। समस्त प्रजा मे आनन्द छा गया। भूमि शस्यश्यामला हो गई। देवता परम प्रमुदित हुए। असुरो का तेज क्षीण हो गया। राक्षस भयभीत से प्रतीत होने लगे। सभी के मन में एक अव्यक्त आह्लाद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार नौ मास पूर्ण होने पर शुभ मास, शुभ पक्ष, शुभ तिथि, शुभ वार, शुभ कर्ण शुभ मुहूर्त, शुभ ग्रहनक्षत्र सबके एक साथ शुभ हो जाने पर दिन के मध्य भाग मे जब सूर्यदेव सिर पर आ गये थे तब कौशल्या रूपी प्राचीदिशि से दूसरे सूर्य का प्राकट्य हुआ। मानो सूर्यदेव फिर से अपने कुल मे बालक बनकर उत्पन्न हुए। कौशल्या ने एक रत्न को उत्पन्न किया। पुत्रोत्पत्ति सुनकर सर्वत्र बाधायें बजने लगे। स्त्रियाँ मंगलगान करने लगी, देवता स्वर्ग से पुष्पों की वृष्टि करने लगे। चैत्र शुक्लानवमी को श्रीराम का प्राकट्य हुआ।

छप्पय

अगिनि कुंड तें प्रकट भये पायस नृप दीन्हों।
तीनों रानिनि दियो भाग न्यायोचित कीन्हों॥
गर्भवती सब भई सबनिके हिय हुलसाये।
शुभ मुहूर्त शुभ समय राम कौशल्या जाये॥
शुक्लपक्ष मधुमास की, नवमी अति पावन परम।
प्रकटे रघुकुल चन्द्र शुभ, भयो अजन्मा को जनम॥

मान्धाता के वंश में त्रिशङ्कु

[६३४]

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशंकुरिति विश्रुतः ।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद् गुरोः कौशिकतेजसा ॥
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते ॥*

(श्री भा० ९ स्कं० ७ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

त्रसदस्यु सुत तासु भये अनरण्य पुत्र तिन ।
तिनके सुत हर्यश्व अरुण तिन तिनहिं त्रिबन्धन ॥
भूप त्रिबन्धन तनय सत्यव्रत भये कुमति अति ।
शंकु तीनि जिन करे, त्रिशङ्कु ख्यति भूमिपति ॥
गुरु वशिष्ठ के शाप तैं, श्वपच भये अति दुख सहे ।
चांडालनि के बीच महँ, पितु आयसु तैं ते रहे ॥

राजर्षियों के वंश में राजर्षि ही उत्पन्न होते हैं किन्तु कभी-

---

* श्री शुकदेवजी मान्धाता के वंश का वर्णन करते हुए कहते हैं—"राजन् ! महाराज त्रिबन्धन का पुत्र सत्यव्रत हुआ, जो त्रिशङ्कु के नाम से विख्यात हुआ । वह अपने गुरु वशिष्ठ के शाप से चांडाल हो गया था, किन्तु विश्वामित्रजी के तेज से सशरीर स्वर्ग चला गया, जो अब भी आकाश में दिखाई देता है ।"

है,क्योंकि आप के पुत्रने समुद्र पर सेतु बाँध दिया।" माता ने श्री राम को बुला कर पूछा—"राम, ये मुनि कह रहे हैं, कि मैं सबसे बड़ी हूँ, क्योंकि तुमने समुद्र पर सेतु बाँध दिया और मैं तुम्हारी जननी हूँ, ।"

श्रीराम ने कहा—"जननी तो बड़ी हैं, किन्तु सेतु बाँधना कोई बड़ी बात नहीं। अगस्त्यजी तो समस्त समुद्र के सलिल को एक चुल्लू में ही पी गये थे, अतः उनकी जननी आप से भी बड़ी हुईं। सब मुनि मिलकर अगस्त्य के पास गये और कहा-आप सबसे बड़े हैं। अगस्त्य मुनि हंसपड़े और कहा—"न अंजना बड़ी न हनुमान बड़े। न कौशल्या बड़ी न उनके सुत राम बड़े। न मैं बड़ा न मेरे माता-पिता बड़े। सबसे बड़ा तो राम का नाम है, जिसके प्रभाव से समुद्र पर सेतु बना जिसके प्रभाव से शङ्कर जी विष को पचा गये और जिसके प्रभाव से मैं सम्पूर्ण समुद्र के सलिल को पान कर गया।" राम से भी बड़ा राम का पवित्र मधुमय नाम है।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! चैत्र शुक्ला राम नवमी के दिन श्रीरामचन्द्र का जन्म हुआ। दूसरे दिन दशमी को कैकेयी के गर्भ से राम प्रेम के साकार स्वरुप जगत् पावन श्री भरतजी का प्राकट्य हुआ और चैत्र शुक्ला एकादशी को सती सुमित्रा से अश्विनी कुमारों के समान, नर नारायण के समान, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समान वे चारों कुमार अपने कमल मुखों से उस रनिवास को शोभायमान करने लगे। राजा की सैकड़ों रानियों के नेत्र उन अन्तःपुरी स्थित बालकों को उसी प्रकार निहारने लगे जैसे चार चन्द्रों को असंख्यों कुमुद कुसुम निहारते रहते हैं। वे चारों सब के सुखदाता थे।

था। नाग लोक में उससे सुन्दरी कोई कन्या नहीं थी। जब वह मानवीरूप रखकर शृंगार करती तब स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरायें भी उसके सम्मुख तुच्छ दिखाई देतीं। नागराज ने सोचा— "क्यों न मैं अपनी इस बहिन का विवाह राजर्षि पुरुकुत्स के साथ कर दूँ। इस सम्बन्ध से राजा भी परमसन्तुष्ट होंगे और हमारी प्रार्थना पर गन्धर्वों का वध भी कर देंगे।" यह सोचकर नागराज अपनी बहिन लेकर अयोध्याधिपति महाराज पुरुकुत्स के समीप गये। उस ललना ललाम के अनवद्य सौंदर्य को देखकर महाराज का मन तो लट्टू की तरह नृत्य करने लगा। जब नागराज ने महाराज से प्रार्थना की तो उन्होंने सहर्ष नर्मदा के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। वेद की विधि से राजा का नर्मदा के साथ विवाह हो गया और वे उसके साथ आनन्द विहार करने लगे। नर्मदा के सौन्दर्य के कारण महाराज उसके ऐसे वश में हो गये थे, कि वह जो भी कहती महाराज वही करते।

नर्मदा ने जब देखा कि महाराज मेरे सर्वथा अधीन हो गये हैं, तो उसने एक दिन अपने भाई की प्रेरणा से पृथ्वीपाल से प्रार्थना की, कि प्रभो! आप नागलोक में एक बार मेरे साथ पधारें।"

रानी के कहने से महाराज पाताल में गये और नागों के कहने से वध करने योग्य गन्धर्वों का उन्होंने वध किया। इससे प्रसन्न होकर नागराज ने उन्हें वर दिया कि—"आपके इस आख्यान को जो श्रद्धापूर्वक स्मरण करेंगे उन्हें सर्पों से किसी प्रकार का भय न होगा।" तभी से सर्पनाशक पुण्य श्लोक पुरुषों में महाराज पुरुकुत्स का स्मरण किया जाता है, क्योंकि ये नाग जाति के उद्धारक हैं।

और भरत शत्रुघ्न ये दो दो साथ होने पर भी राम में इन सबका अन्तर्भाव होगा।"

अपने पुत्रों की ऐसी प्रशंसा सुन कर पृथिवीपति दशरथ परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने कुल पुरोहित भगवान् वशिष्ठ का पूजन सत्कार किया। फिर उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराया याचको को दान दिया। सभी ने हृदय से बालकों के अभ्युदय के लिये मनोकामना की और उन्हें भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। अब चारों कुमार बड़े लाड़ प्यार से बढ़ने लगे।

लक्ष्मण बाल्य काल से ही श्रीराम के अनुगत थे और शत्रुघ्न भरत के। पहिले-पहिले लक्ष्मण बहुत रोया करते थे, सुमित्रा ने गुरु वशिष्ठ को बुला कर उनसे प्रार्थना की—"प्रभो! यह बच्चा रोता बहुत है। इसे किसी की दृष्टि तो नहीं लग गई, किसी ने टोटका तो नहीं कर दिया। कोई यन्त्र मन्त्र कर दीजिये। झाड़ फूंक कर दीजिये या कोई और उपाय बताइये।"

वशिष्ठजी ने ध्यान से देख कर कहा—"रानी जी! इसका एक उपाय है, तुम इन्हें श्रीराम के पालने में सुला दिया करो। सुमित्रा जी ने ऐसा ही किया। रामजी के पालने में जाते ही लक्ष्मण किलकारियाँ मारने लगे वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे अगाध समुद्र में जाकर मत्स्यराज का शिशु प्रमुदित होता है। अब तो माता को सरल उपाय मिल गया। लक्ष्मण को राम के पालने पर और शत्रुघ्न को भरत के पालने पर सुला कर वे निश्चिन्त हो जातीं। कौशल्या जी की सेवा करती रहतीं। मानों उन्होंने लक्ष्मण को कौशल्या को दे दिया और शत्रुघ्न को कैकेयी के लिये सौंप दिया। स्वयं सेविका बन कर दोनों बहिनों की

लगे। राजा की सेना का राक्षस सहार करने लगे। जैसे कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा अंधकार को नाश करने लगता है वैसे ही राक्षसों की सेना महाराज की सेना का नाश करने लगी। राजा की सेना में भगदड़ मच गई। तब तो स्वयं महाराज बड़ा भारी धनुप लेकर राक्षसराज रावण से लड़ने आये। बहुत देर तक बड़ी वीरता के साथ महाराज उस राक्षसराज से युद्ध करते रहे, किन्तु उसे तो अपराजित होने का वरदान था, अत: उसने युद्ध में महाराज के एक ऐसा वाण मारा कि महाराज रथ से उसी प्रकार पृथ्वी पर गिर पड़े जिस प्रकार आकाश से नक्षत्र टूट कर गिर पड़ता है।

महाराज के मर्म स्थान में रावण का बाण लगा। उन्होंने प्राणों को छोड़ते समय रावण को शाप देते हुए कहा--"अरे दुष्ट! तूंने काल की कुटिल गति के कारण अपराजित इक्ष्वाकु कुल का अपमान किया हैं, अत: मैं तुझे शाप देता हूँ कि मेरे ही वश में, एक दशरथ नाम के राजा होंगे, उनके पुत्र श्रीराम चन्द्र तेरा वध करेंगे।" रावण ने इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उसे तो इस बात का अभिमान था, कि ब्रह्माजी की रची हुई सृष्टि में मुझे कोई मार नहीं सकता। मनुष्य तो मेरे भक्ष्य हैं, भला गौ को घास कैसे मार सकती है। इसीलिये वह इस बात को अनसुनी करके विजय का डङ्का बजाकर लंका के लिये चला गया।

महाराज अनरन्य के परलोक वासी होने पर उनके धर्मात्मा पुत्र हर्यश्व राजगद्दी पर बैठे। ये भी पिता के समान बली और पराक्रमी थे। इनके पुत्र अरुण हुए। और अरुण के पुत्र त्रिबन्धन के ही पुत्र सत्यव्रत हुए जो त्रिशंकु के नाम से जगत में विख्यात हुए। ये इक्ष्वाकु कुल में कलंक के समान हुए।

मातायें उनके मनोहर मुख को देखकर अपने अङ्गों में फूली नहीं समाती। उन्हें बारबार छाती से चिपटाती। कई बार स्तनों का दूध पिलातीं लोरियाँ दे देकर पालने पर सुलातीं, गोदी में ले लेकर बड़े प्यार से खिलातीं, इधर उधर टहलाती, बोलना-चलना सिखाती, वस्तुओं के नाम बतातीं खिसकते खिसकते जब गिरने लगते तब उठाती प्रेम से हिलाती। आँखों में मोटा-मोटा काजल लगाती। सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभूषण मँगाकर पहिनाती। इस प्रकार सभी प्रकार से एकाग्रचित्त होकर वे श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न की देखरेख सेवा सुश्रूषा करती। ऐसा करने मे उन्हे हार्दिक प्रसन्नता होती।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! जिनके घर में साक्षात् आनन्द-घन परब्रह्म ही प्रकटित हो गये है, उनके भाग्य और सुख के सम्बन्ध मे कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। यही तो जीवका परम लक्ष्य है। यही तो मानव शरीर की सार्थकता है। जब राम कुछ बड़े हुए तो अपने भाइयों के साथ भाँति २ के खेल खेलने लगे।"

छप्पय

अब कुछ घुटुअन चलत फिरत इत उत महलनि महँ।
बलिबलि जावें मातु बुलावत हँसि सैननि महँ॥
छोटी छोटी लटैं लटकि आनन पै बिथुरैं।
चमकीली लखि वस्तु दौरि ताहीकूँ पकरैं॥
पानी कूँ पप्पा कहैं, हप्पा माँगे मातुतें।
बप्पा भूपति कूँ कहत, धूलि मलत निज गात तें॥

हो जाय. वही वध करने को उद्यत हो जाय, तो प्रजा फिर किसकी शरण में जाय, यह राजकुमार हैं, मेरी लड़की को उड़ा ले गया, तो क्या होगा। यद्यपि राजा धर्मात्मा हैं फिर भी पुत्र तो पुत्र ही ठहरा उसके विरुद्ध वे क्या कर सकते हैं। यह सोच कर उसने शीघ्रता से एक वर खोज कर उसके साथ कन्या का विवाह कर दिया।

विवाह संस्कार हो रहा था, तभी राजकुमार का पता चला। वह शीघ्र ही उस स्थान पर पहुँचा जहाँ वर वधू मंडप में बठे थे और वैदिक मन्त्रों से ब्राह्मण विवाह करा रहे थे। कुमार ने सबकी अवज्ञा करके वेद मन्त्रों का तिरस्कार करके विधि में विघ्न डाला और कन्या को बलपूर्वक उठाकर ले गया। ब्राह्मणों ने बहुत कहा—"कुमार! वेद की विधि का लोप करना वैदिक संस्कारों में विघ्न डालना यह बहुत बड़ा पाप है। राक्षसों को छोड़कर अन्य कोई ऐसा कर नही सकता।" किन्तु कुमार ने एक भी बात न सुनी। वह कन्या को बल पूर्वक उठा ले गया।

ब्राह्मण को बड़ा दुख हुआ। वह रोते-रोते राजा के पास गया और बोला—'महाराज! कुमार सत्यव्रत ने जैसा पाप किया है, वैसा पाप इक्ष्वाकु वश के किसी राजा ने मन से भी न किया होगा। इसने चांडालों का सा कार्य किया है, विवाह होती हुई मेरी कन्या को वेद मन्त्रों का तिरस्कार करके वैवाहिक विधि को लोप करके, मेरी कन्या को बल पूर्वक कुमार ले गया है।"

राजा को यह सुनकर बड़ा क्रोध आया। गुरु वशिष्ठ जी भी बैठे थे। उनसे राजा ने सम्मति पूछी। गुरु ने कहा—"राजन्! ऐसे पुत्र का तो परित्याग ही श्रेयकर है।" राजा ने चरों के द्वारा

विविध रूप रखकर व्यक्त होता है। यदि करुण रस न हो, तो साहित्य मे कुछ रह ही न जाय। मिठाइयों मे माधुर्य को निकाल लिया जाय, तो वे किस काम की होंगी। कोई भी रस करुण के बिना चमकता नही। करुण सभी रसों में अनुस्यूत है। करुण रस के बिना काव्य नीरस है। श्रीराम ने अवनि पर अवतरित होकर करुण रस की अविच्छिन्न धारा वहाई है,जो अभी तक वह कर भक्तों के हृदय को शीतलता प्रदान कर रही है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार अविरल वह कर प्राणियो को कृतार्थ करती रहेगी। करुणा वियोग में, उत्कण्ठा में उत्पन्न होती है। कृष्णचरित्र संयोग चरित्र है, उसमें वियोग की एक झलक है, किन्तु वह बनावटी है, कृष्ण अपने हृदयेश्वरी से पृथक अवश्य होते है, किन्तु वह पृथकत्व कल्पित सा है। उसमे श्री कृष्ण अधिक दुखित नही होते वियोग तो वह है, कि दोनों ही रोवें दोनों ही छटपटावे दोनों ही बिलबिलावें, दो वियोग की धारायें समान रूप से बहें। करुणा का जैसा साकार स्वरूप राम चरित्र में मिलता है, वैसा संसार में कोई नहीं। राम का सम्पूर्ण जीवन रोते रोते बीता। बाल्यकाल मे वे माता की गोद में, पालने में, खेल मे रोते रहे। बड़े हुए तो रूखी जटा वाले बाबाजी के पल्ले पड़े। वहाँ माता पिता की स्मृति में रोते रहे। अरण्य मे भी विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ी। अपनी प्राण प्रिया का वियोग हुआ वह तो पराकाष्ठा की करुणा थी। जैसे तैसे मिली कि फिर वियोग। जीवन भर रो रोकर ही उन्होंने करुणा की सरिता के पाट को बढ़ाया।

जिस हृदय में करुणा नहीं, स्निग्धता नहीं। वियोग व्यथा अनुभव करने की शक्ति नही वह राम चरित्र को पढ़े भी तो क्या समझ सकता है। कारुणिक हृदय ही राम चरित्र को

गुरु के शाप से राजा चांडाल हो गये और इधर-उधर वनों में मारे-मारे फिरने लगे। राजा की इच्छा हुई कि मै एक ऐसा भारी यज्ञ करूं जिससे मैं अपने इस सुन्दर शरीर के सहित ही स्वर्ग चला जाऊं। वहाँ जाकर अपने सौन्दर्य से सुरों को लज्जित करूं।"

यह सोच कर वे गुरु के निकट गये और हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो! गृहस्थियों की एकमात्र कुल पुरोहित ही गति हैं, वे ही धर्म-कर्म के अधिकारी हैं। गुरु ही भयत्राता और ज्ञानदाता हैं। आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो जायँ और मुझे प्रायश्चित्त कराकर एक बड़ा भारी यज्ञ करावें, जिससे मै इस शरीर के सहित स्वर्ग चला जाऊं।"

वसिष्ठजी ने कहा—"तैंने तीन बड़े भारी-भारी (शंकु) पाप किये हैं। वैदिक विधि में विघ्न डाला है, ब्राह्मण की कन्या का अपहरण किया है और मेरी यज्ञधेनु का वध किया है, इसीलिये तेरा नाम आज से त्रिशंकु विख्यात होगा। तू अपने कर्मों से चांडाल हो गया है। मैं तुझे यज्ञ नही करा सकता।"

राजा ने गुरु की बहुत अनुनय विनय की। उसके यहाँ बिना खाये पडा रहा गुरु ने दृढता के स्वर में कहा—"तू चाहे भूखो मर जा मैं तुझे यज्ञ नहीं करा सकता।"

यह सुनकर राजा उदास होकर गुरु वसिष्ठ के १०० पुत्रों के समीप गये और विनीत भाव से बोले—"गुरपुत्रों! मेरे गुरु ने मुझे त्याग दिया है, अब आपका ही मुझे सहारा है, जैसे ही गुरु वैसे ही गुरुपुत्र। मैं गुरुघराने के पुरुषों के रहते, अन्य किसी से यज्ञ कराना नहीं चाहता, आप मुझसे मेरे पापों का प्रायश्चित कराके यज्ञ कराइये जिससे मै सशरीर स्वर्ग चला जाऊँ।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अरे नीच राजा! जब तेरा गुरु ने परि-

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न अब लड़खड़ाते हुए माताओं की उङ्गलियों को पकड़ कर चलने लगे। तोतली वाणी में कुछ बोलने भी लगे। वे अपनी बाल लीला से पिता माताओं को सन्तुष्ट करने लगे। माताओं का सम्पूर्ण समय उनके लाड़ प्यार और देखरेख में बीत जाता। प्रातःकाल उठते ही वे सोते हुए बालकों को लोरियां देकर उठातीं। उनका मुँह धुलातीं कुछ बालभोग खिलातीं। फिर नित्यकर्मों से निवृत्ति करा कर भाँति-भाँति के सुगन्धित तेल लगा कर उबटन लगा कर सुन्दर सुगन्धित सरयू जल से स्नान करातीं, बालों को सुलझातीं, आभूषणों को यथा स्थान सुन्दर चटकीली सुहावने रेशमी वस्त्रों को पहिनातीं, फिर इधर उधर घुमातीं, टहलातीं। महाराज उन्हें गोदी में लेकर चूमते पिता से कुमार भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते उनके दाढ़ी मोंछ के बालों को पकड़ लेते, चमकते हुए मुकुट को उतारने दौड़ते। महाराज प्यार से अपना मुकुट उतार कर श्रीराम को पहिनाते। जिससे उनका सब मुख ढक जाता मुकुट गले तक चला जाता। तब ऊब कर राम उसे उतारने का प्रयत्न करते, सभी हँस जाते। महाराज साथ साथ अपने थाल में बिठा कर सब को खिलाते महाराज मुख में कौर देते तो श्रीराम भी अपने छोटे छोटे हाथों में कोई मीठी वस्तु लेकर महाराज के मुख मे देना चाहते, किन्तु हाथ न पहुँचने के कारण वे विवश से हो जाते, तब तुरन्त महाराज उन्हें गोद में उठाकर उनके हाथ की वस्तु को खा लेते साथ ही उनके मुख को चूम लेते। चूमते समय कपोलों पर दाल भात, दही, कढ़ी लग जाती। जिसे देख कर रानियाँ हँस जातीं। महाराज स्वयं पोंछते तब आप भी कोई कढ़ी, दही, खीर आदि पतली वस्तु लेकर महाराज के मुख पर पोत देते, इससे सभी हँसने लगते। रानियाँ हँसते हँसते लोट पोट हो जातीं

यज्ञ का यजमान चांडाल हो, आचार्य क्षत्रिय हो उस यज्ञ में हम नहीं जा सकते।" इतना सुनते ही विश्वामित्र ने उन्हें शाप दे दिया—"तुम सबके सब चांडाल हो जाओ।" मुनि का शाप व्यर्थ जाने वाला तो था ही नहीं। वसिष्ठ के पुत्र चांडाल हो गये।

तब फिर मुनि ने अन्य ऋषियों को बुलाया। ऋषियों ने आपस में मन्त्रणा की, वे सब डरे हुए थे। उनमें से एक बूढ़े महर्षि ने कहा—"देखो, भाई यह गाधि का पुत्र विश्वामित्र बड़ा क्रोधी है यदि हम लोग इसके बुलाने से न गये, तो यह हम सबको भी शाप दे देगा। इसलिये कल्याण इसी में है चुपचाप चले चलो, और वह जो कहे उसकी हाँ में हाँ मिलाते जाओ।" यह बात सबने स्वीकार की, क्या करते, कहावत है "बलवान मारे और रोने न दे।" विश्वामित्रजी ने सभी ऋषियों को कार्य सौंपे। सभी बड़ी सावधानी से कार्य करने लगे। यज्ञ के अन्त में मुनि ने मंत्र पढ़े और राजा से कहा—"राजन्! अब आप सम्हल जायँ, मैं सशरीर आपको स्वर्ग भेजता हूँ।" यह कहकर उन्होंने मंत्र पढ़े। राजा अपने शरीर सहित ऊपर उड़ने लगे। उड़ते-उड़ते वे इसी शरीर से इन्द्र की दिव्य अमरावती पुरी में पहुँच गये। देवताओं ने जब देखा कि यह चांडाल तो सशरीर स्वर्ग में आ गया तो वे परम विस्मित हुए। उनके लिये यह अभूतपूर्व बात थी। क्रोध में भरकर उन्होंने राजा को नीचे ढकेल दिया। अब तो राजा सिर नीचा किये स्वर्ग से उसी प्रकार गिरे, जिस प्रकार क्षीण पुण्य होने से पुरुष सुरपुर से गिराये जाते हैं। गिरते समय त्रिशंकु चिल्लाने लगा—"गुरुदेव! महाराज! मुनिवर विश्वामित्र जी! मुझे बचाइये। देवता मुझे गिरा रहे हैं।"

छप्पय

सखनि संग मिलि करें खेल अब चारो भैया।
चरित निरखि नृप सहित मुदित हों तीनों मैया॥
बड़े भये उपनयन करयो गुरु गृह भिजवाये।
मुनि वशिष्ठ प्रभु-शिष्य पाइ अति हिय हरषाये॥
गुरु सुश्रूषा करहिं सब. पढ़हिं पाठ एकाग्र चित।
समय शील संकोच युत, सुनहिं शास्त्र श्रुति तन्त्र नित॥

त्रिशंकु को गुरु का शाप है। उसे तीन महा पाप लगे हैं, वह सशरीर स्वर्ग कैसे जा सकता है ?"

विश्वामित्र जी ने कहा—"कुछ भी क्यों न हो। मैंने तो राजा को सशरीर स्वर्ग भेजने का वचन दे दिया है, अब मैं मान नहीं सकता। या तो स्वर्ग को बिना इन्द्र का कर दूँगा, या नये इन्द्र का निर्माण करूँगा।"

इन्द्र ने कहा—"मुनिवर! यदि आपका ऐसा ही हठ है, तो हम त्रिशंकु के लिये जहाँ लटका है वहीं नये स्वर्ग को स्वीकार किये लेते हैं। वह संसार में त्रिशंकुव स्वर्ग कहलायेगा। महाराज त्रिशंकु वहीं सुख से रहेंगे आपके बनाये हुए ग्रह और सप्तर्षियों को भी हम स्वीकार किये लेते हैं। अब बात को बहुत न बढ़ाइये। हमारा अधिक अपमान न कराइये। अब तो आपकी ही बात रही।"

विश्वामित्रजी ने सोचा—"चलो, देवताओं ने त्रिशंकु को स्वर्गीय मान तो लिया। अपनी बात रह तो गई, अब अधिक आग्रह अनुचित है।" यह सोचकर उन्होंने कहा—"अच्छी बात है। ऐसा ही हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तभी से आकाश में दो सप्तर्षि मंडल हो गये हैं। विश्वामित्रजी के निर्माण किये ग्रह भी अद्यावधि आकाश मंडल में विद्यमान हैं। महाराज त्रिशंकु अब भी आकाश में अधर में लटके हुए तारा रूप में दिखाई देते हैं। कहते हैं, उनके मुख की लार से ही कर्मनाशा नदी उत्पन्न हुई है। इसी लिये कर्मनाशा नदी का कोई पानी नहीं पीते जो कर्मनाशा नदी का जल पी लेते हैं उनके समस्त शुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

पृथ्वी पर भी विश्वामित्रजी के बनाये क्षुद्र अन्न अब तक विद्यमान हैं। कोदों, महुआ, मकई, आदि उन्हीं के रचित अन्न

है। प्रभु की लीलायें प्राकृत सी दिखाई देने पर भी अप्राकृत हैं। वे मानवीय सी लगने पर भी दिव्य है,उनमें विश्व को विमोहित करने की शक्ति निहित है। जो श्रद्धा से उनकी इन लीलाओ को सुनेंगे वे तो लाभ में रहेगे, जो मानवीय भाव से इन्हें समझेंगे मानव ही बने रहेगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! श्रीराम अपने तीनों भाइयों के साथ साथ गुरु के घर मे पढ़ने गये। अब वे माताओं से पृथक गुरु घर में रहने लगे। अब वे राजसी वस्त्राभूषण नहीं धारण करते थे। मूंज की मेखला धारण करके रुरु नामक मृग का चर्म धारण करते। खदिर का दण्ड धारण करके कोपीन लगाते और गुरुगृह मे भिक्षा पाकर विद्याध्ययन करते। ब्रह्मचारी वेद में श्रीराम मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य ही दिखाते। गुरु जो भी एक बार पढ़ा देते, उसे वे तत्काल याद कर लेते। याद क्या कर लेते, उन्हें तो सब वेदशास्त्र पहिले से ही याद थे। वेद तो उनकी स्वांस से ही उत्पन्न हुए है। शास्त्र तो उनका निर्मित शासन है उनकी सर्ग की स्मृति ही अनेकों स्मृतियां हैं। प्रथम तो भगवान् वशिष्ठ को उनकी ऐसी कुशाग्र बुद्धि पर आश्चर्य हुआ। फिर यह समझ कर कि ये तो साक्षात् परब्रह्म पुराण पुरुष है, उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। उनके रोम-रोम खिल गये, उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा।

इस प्रकार स्वल्पकाल में ही श्रीराम ने सभी वेद, समस्त शास्त्र, सभी विद्यायें पढ़ ली। गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा-"राजन्! आपके सब पुत्र समस्त विद्याओं में पारङ्गत हो गये। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता हो गये।" यह सुनकर महाराज दशरथ परम प्रमुदित हुए। वे गुरु की आज्ञा से अपने प्राणों से

था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त होकर इसे श्रवण करें।"

छप्पय

दारा विश्वामित्र भरण पोषण नृप कीन्हों।
ह्वै प्रसन्न मुनि नृपहिं मनो वांछित वर दीन्हों॥
इच्छा राजा करी सहित तनु स्वर्ग सिधाऊँ।
बोले विश्वामित्र यज्ञ करि तुरत पठाऊँ॥
तपतें भेजे स्वर्ग नृप, सुरनि ढकेले गिरे नभ।
लटके अधर त्रिशंकु तब, मध्यहिं डाँटे मुनि स्रपभ॥

महामुनि विश्वामित्र का आगमन सुनकर राजा सहसा सकपका गये। वे शीघ्रता से सिंहासन पर से उठ कर नंगे पैरों ही वशिष्ठ जी को आगे करके मुनि के स्वागत के निमित्त चले। द्वार पर पहुँच कर राजा ने मुनि के पादपद्मों मे प्रणाम किया,शास्त्रीय विधि से उनकी पूजा की। कपिल गौ उनको भेट की और बड़े सत्कार से उन्हें अपने यहाँ ले आये।

मुनि की पूजा होने के अनन्तर दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने के उपरान्त हाथ जोड़ कर स्नेह भरी वाणी में राजा दशरथ बोले-"ब्रह्मन् ! आज मेरे यज्ञादि समस्त शुभ कर्म सफल हो गये, आज मेरा घर पावन बन गया,आज मेरे पितर तर गये जो आप जैसे परमार्थियो की पादरज मेरे गृह में पड़ गई, ब्रह्मन् ! आपने मुझे दर्शन देकर अत्यन्त ही अनुग्रहीत किया। अब मेरी यह जानने की अत्युत्कट अभिलाषा है, कि भगवान् मुझे केवल कृतार्थ करने दर्शन देने ही पधारे हैं, या मेरे लिये कोई विशेष आज्ञा है।"

गम्भीर होकर विश्वामित्र बोले—"राजन् ! मैं एक आवश्यक कार्य से आपके समीप आया हूँ, यदि आप मेरी याचित वस्तु को देने का वचन दें, तब मैं कहूँ ?"

यह सुनकर अत्यन्त अधीरता प्रकट करते हुए दीन वाणी में राजा बोले—"प्रभो ! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं। ऐसा प्रश्न तो दूसरों से किया जाता है। मैं तो आपका अनुगत. अनुचर, शिष्य, सेवक, सुत तथा आज्ञाकारी भृत्य हूँ। स्वामिन् ! मेरा राज्यपाट, कोष, सुत, परिवार सर्वस्व आपका है। आप आज्ञा करें, यदि प्राण देकर भी मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँगा तो करूँगा, यदि आप इन्द्र का सिंहासन चाहेंगे, तो उसे

पुत्र के प्रति पिता का कितना प्रेम होता है। इसे पिता के अतिरिक्त अन्य पुरुष अनुभव कर ही नहीं सकते। जो गृहस्थ होकर भी पुत्र-पौत्रवान् नहीं है उसका गृहस्थी होना व्यर्थ है। और पुत्रवान् होकर भी जिनके पुत्र का जीवन सन्देहास्पद है उसका भी जीवन व्यथ है। पुत्र हो, स्वस्थ हो, निरोग हो, तथा गुणी और सुशील हो, तभी पिता अपने को कृतकृत्य समझता है तभी उसे पुत्रवान् होने का सुख प्राप्त होता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! त्रिशंकु के पुत्र पुण्यश्लोक महाराज हरिश्चन्द्र हुए। उनके कोई पुत्र नहीं था। निःसन्तान होने से राजा नित्य ही खिन्न रहा करते थे। उनकी रानी शैव्या भी संतान न होने से चिन्तित रहती थीं। एक दिन घूमते-फिरते देवर्षि नारद महाराज हरिश्चन्द्र के यहाँ पधारे मुनि को आया हुआ देखकर राजा ने उनका स्वागत सत्कार किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर नारद जी ने पूछा—"राजन्! प्रतीत होता है, आपको कोई मानसिक चिन्ता है, तभी तो आपका मुख म्लान हो रहा है, आप अपने चिन्ता का कारण मुझे बताइये।"

राजा ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—'प्रभो! आप सर्वज्ञ है। भूत भविष्य और वर्तमान की समस्त बातें आपको हस्तामलकवत् विदित है। आप घटघट की जानने वाले हैं आप से क्या छिपा है, आप सब जानते हुए भी अनजान की भाँति मुझसे पूछ रहे हैं, तो मै बताता हूँ—"स्वामिन मेरा इतना विस्तृत राज्य है, इतनी बडी सप्तद्वीपवती वसुन्धरा का मैं एक मात्र संम्राट हूँ, फिर भी मैं तथा मेरे पितृगण सदा दुखी रहते हैं। मै तो इसलिये दुखी रहता हूँ, कि मेरे वंश का विच्छेद हो जायगा, मेरे इतने वैभव को मेरे पश्चात् भोगने वाला कोई न

मुनि बोले—"राजन् ! यह काम आपके मान का नही। आप उन राक्षसों को नहीं मार सकते। आपकी सेना कुछ काम न देगी।" राजा ने पूछा—"प्रभो ! ऐसे वे कौन से राक्षस हैं,मैं नहीं मार सकता।"

मुनि बोले—'राक्षसों का राजा रावण है उसकी प्रेरणा से सुन्द, उपसुन्द मारीच, सुबाहु आदि बहुत से राक्षस आकर मेरे मख में विघ्न डालते है। उन्हीं से मुझे भय है। उन्हें मैं राम के द्वारा मरवाऊँगा।

रावण नाम सुनते ही राजा परम भयभीत हो गये, बोले—"ब्रह्मन् ! उस दुष्ट रावण ने तो तीनों लोको को जीत लिया है हमारे पूर्वज महाराज अरण्य को मार दिया है। ब्रह्मन् मैं उससे युद्ध नही कर सकता। सुन्द उपसुन्द का भी पराक्रम मैंने सुना है। मैं मेरी सेना समस्त भूपतिगण रावण से युद्ध नहीं कर सकते। इनके साथ युद्ध करने मै अपने पुत्रों को कभी न दूँगा। किसी प्रकार न दूँगा। आप चाहें शाप देकर मुझे भस्म ही क्यों न कर दे।"

यह सुनकर मुनि कुपित हुए। उन्होंने राजा को डराया धमकाया। साम दाम, दण्ड-भेद आदि सभी उपायो से विवश किया। राजा थर-थर कांप रहे थे, डर रहे थे, भयभीत हो रहे थे, किंतु राम लक्ष्मण को देने को उद्यत नही थे। मुनि ने राम का प्रभाव बहुत समझाया, ये साक्षात् विष्णु हैं अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया अपने तप तेज का प्रभाव बताया, रक्षा करने का आश्वासन दिया। किन्तु राजा किसी प्रकार मानते ही नही थे। मुनि का आग्रह था कि मैं राम लक्ष्मण को लेकर जाऊँगा। राजा का प्रतिज्ञा थी चाहे पृथिवी उलट पलट हो जाय, इधर का सूर्य

वरुणजी ने पुत्र-स्नेह की परीक्षा के निमित्त उसी दिन आकर राजा से कहा—"राजन! आपके पुत्र हो गया है, इसी के द्वारा अब अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार मेरा यजन कीजिये।"

राजा ने कहा—"महाराज! पुत्र को दस दिन का हो जाने दीजिये, सूतक तो छूट जाय तब यजन करूँगा।"

दसवें दिन वरुण ने आकर कहा—"अब तो दस दिन भी हो गये, यजन कब करोगे?"

राजा बोले—"भगवन्! बच्चे के दाँत तो निकल आने दीजिये, तब देखा जायगा।"

दाँत निकलने पर वरुण ने आकर फिर कहा—"राजन्! आपके पुत्र के दाँत भी निकल आये, मेरा यजन भूल गये क्या?"

राजा ने कहा—"महाराज! मुझे ध्यान है बच्चे के जो दाँत निकले हैं, ये दूध के दाँत हैं जब ये दूध के दाँत गिर जायँगे तब यजन करूँगा।"

जब दूध के दाँत गिर गये तब फिर आकर वरुण ने कहा—"अजी राजन्! यज्ञ पशु के दूध के दाँत तो गिर गये। अब मेरा यजन कब करोगे?"

राजा ने कहा—"महाराज! फिर से दाँत तो निकल आने दीजिये।"

फिर से दाँत निकल आने पर वरुण आये और बोले—"महाराज और कब तक मैं प्रतीक्षा करूँ।"

राजा ने कहा—"महाराज! बच्चे को कुछ सयाना होने दीजिये। धनुष कवच धारण करने योग्य हो जाय, तब देखा जायगा।"

कुछ दिनों के बाद कुमार रोहित धनुषबाण और कवच

सरल स्वभाव से राजीव लोचन बोले—"भगवन् ! जब समस्त भयों को नाश करने वाले आपका वरद हस्त हमारे ऊपर है तब हमें भय किस बात का । भगवान् की जैसी आज्ञा होगी उसका अक्षरशः पालन करेंगे ।"

श्रीराम के ऐसे सारगर्भित वचन सुनकर विश्वामित्रजी वही रह गये और नित्य कृत्य करके उन्होंने वह रात्रि वही बिताई । प्रातःकाल मुनि ने भोर में दोनों भाइयों को अत्यन्त स्नेह से जगाया । नित्यकर्मों से निवृत्ति होकर वे आगे बढ़े ।

मार्ग में उन्हें बड़े मुख वाली, लम्बी लम्बी दाँतों वाली ताड़का नाम की राक्षसी मिली । उसका मुख पर्वत की कन्दरा के समान था । हल की फार से भी बड़े उसके दाँत थे। खुटेके समान उसकी दाढ़ें थीं । सूप से भी बड़े उसके कान थे । उसके स्तन ऐसे लगते थे मानों दो पर्वत शिखर उसकी छाती पर रखें हों, उसके बाल बिखरे हुए थे । बड़े बडे हाथ थे, उसके उस विकराल रूप को देखकर श्रीराम तनिक भी विचलित नही हुए उन्होने विश्वामित्र जी से पूछा—"प्रभो ! यह विकराल भेष वाली राक्षसी कौन है ?"

विश्वामित्र जी बोले—"यह सुकेतु नामक यक्ष की पुत्री है और सुन्द नामक राक्षस की पत्नी है, यह बड़ी क्रूरकर्मा है, रामचन्द्र इसे तुम मार डालो ।"

श्रीराम बोले—महाराज ! पहिले ही पहिले तो मुझे मारना आरम्भ करना है । श्री गणेश इससे ही करूँ ? स्त्री को ता अवध्या बताया है ।"

विश्वामित्र जी बोले—"भाई ! वेद शास्त्र को प्रकट करने वाले हम ऋषिगण हीं तो हैं । जो सबको क्लेश देता हो, जिसके

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! क्या शुनःशेपकी उस यज्ञ में बलि दी गई।"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"अजी राजन् ! इतने बड़े-बड़े ऋषि महर्षि, ब्राह्मणकुमार की बलि कैसे दे सकते हैं। उसे तो विश्वामित्रजी ने अपने प्रभाव से देवताओं मे छुड़ा लिया और अपना पुत्र मान लिया। वह विश्वामित्रजी के पुत्रों में बड़ा प्रसिद्ध हुआ कौशिक गोत्र में आजीगर्त से प्रवरान्तर से गोत्र-प्रवर्तक भी हुआ। इसकी कथा आगे विश्वामित्र के प्रसंग में मैं कहूँगा। राजन् ! ये महाराज हरिश्चन्द्र ऐसे धर्मनिष्ठ थे कि इनसे प्रतिज्ञा करके विश्वामित्रजी ने इन्हें, भाँति-भाँति के क्लेश दिये, पगपग पर इनका अपमान किया राज्य से भ्रष्ट कर दिया, फिर भी इन्होंने अपने सत्य को नहीं छोड़ा। इसीलिए ससार में सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र की कीर्ति अब तक व्याप्त है। विश्वामित्र के इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर उनके कुल गुरुवसिष्ठजी ने विश्ववामित्रजी को पक्षी होने का शाप दिया था ! इस पर विश्वामित्रजी ने भी वसिष्ठजी को पक्षी होने का शाप दिया। तब दोनों पक्षी बनकर अनेकों वर्षों तक लड़ते रहे।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! विश्वामित्रजी ने महाराज हरिश्चन्द्र को क्लेश क्यों दिये ? जिसके कारण इतने बड़े-बड़े ऋषियों को पक्षी होना पड़ा। महाराज हरिश्चन्द्र ने क्या प्रतीज्ञा की थी। कृपा करके इस कथा को मुझे विस्तार से सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! मैं सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्रजी के पुण्यप्रद चरित को आपको सुनाता हूँ। आप इसे सावधानी के साथ श्रद्धासहित श्रवण करें।"

लोग यहीं निवास करें। तुम्हारे रहने से यह वन परम पावन तीर्थवन जायगा।"

यह सुनकर लजाते हुए श्रीराम ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और एक सघन वृक्ष की छाया में जहाँ जल का सुपास था, अपना आसन जमाया। सन्ध्या वन्दनादि नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर मुनि सो गये। श्रीरामचन्द्र भाई लक्ष्मण के सहित उनके पैर दबाते दबाते अनेक कथाओं को पूछते रहे और विश्वामित्र जी श्रीराघव के पूछने पर प्राचीन कथायें सुनाते रहे। इस प्रकार वह रात्रि उन्होने वहीं बिताई।

ताड़का वध की बात सुनकर शौनक जी ने पूछा–"सूतजी ! *श्रीरामचन्द्र जी ने स्त्रीवध क्यों किया ? स्त्री को तो सर्वत्र* अवध्या बताया गया है। हम देखते हैं राम कृष्ण दोनों ही अव तारों ने वध कार्य स्त्री से ही आरम्भ किया श्रीराम ने आरम्भ में ताड़का बध किया और श्रीकृष्ण ने पूतना वध से मार धाड़ संहार आरम्भ किया। इसका क्या रहस्य है ?"

यह सुनकर सूतजी बोले "महाराज ? श्रीकृष्ण की बात तो आप मुझसे अभी पूछें नहीं। इन टेढ़े टाँग वाले काले देवता की मथुरा तो तीनों लोक से न्यारी ही है। हाँ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की बात मैं बता सकता हूँ। ये पुरुषोत्तमतो मर्यादा के साकार स्वरूप हैं। अतः ये मर्यादा विरुद्ध तो कोई कार्य कर नहीं सकते।"

ताड़का वध का प्रथम कारण तो यह है, कि अयोध्या से चलते समय ही विश्वामित्र जी ने श्रीराम को दिव्य विद्यायें

हरिश्चन्द्र चरित्र

[६३६]

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
यन्निमित्तमभूद् युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ७ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

मृगया हित इक दिवस गये नृप क्रंदन धुनि सुनि ।
गये लक्ष्य करि नारि लखी तहँ अरु कौशिक मुनि ॥
अबला सुनत विलाप धनुष पै बान चढ़ायो ।
अन्तर्हित ते भईं क्रोध कौशिक कूँ आयो ॥
बोले—तू दाता बड़ो, हौं सुपात्र हूँ योग्य अति ।
करो दान सर्वस्व तुम, दयो तुरत सब भूमिपति ॥

दान सबसे श्रेष्ठ धर्म है, दान के सहारे ही पृथ्वी अवस्थित है। जिस समाज में दानियों का अभाव हो जाता है सभी स्वार्थी और विषयलोलुप हो जाते हैं। पर पीड़ा को अनुभव करके जिनमें अपने स्वार्थ त्याग की भावना नहीं, वे तो पशुओं से भी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! त्रिशङ्कु के पुत्र महाराज हरिश्चन्द्र हुए जिनके निमित्त परस्पर शाप से दोनों पक्षी बने विश्वामित्र वशिष्ठ में बहुत वर्षों तक बड़ा युद्ध होता रहा।"

भगवान् ने डाँटकर कहा—"मेरे शासन को पुरस्कृत करके तुम उस बच्चे को दे दो।" यह तो नियम के विरुद्ध विशेष आज्ञा थी। यम ने दे दिया। इसी प्रकार ताड़का वध की गुरु आज्ञा सुनकर पहिले तो श्रीराम हिचके किन्तु जब गुरु ने बल देकर कहा—"इसे मेरी आज्ञा से मारो।" तब राम क्या करते गुरो राज्ञा गरीयसी" ताड़का को गुरु आज्ञा समझकर मारा।

दूसरी बात यह है, कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ओर है। जो मनुष्य सर्व प्रथम अपने वैषयिक प्रकृति को मार नही लेता तब तक वह कोई भी महत्व पूर्ण कार्य कर नही सकता। अतः प्रकृति पर विजय पाना यह पुरुष का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, एक प्राचीन कहावत है कि 'चार को न मारकर पहिले चोर की माँ को मार डालो जिससे चोर पैदा हो ही नही।" विश्वामित्र मुनिके मखमें मारीच सुबाहु ही बहुत विघ्न किया करते थे। रामजीने सोचा चोरोंको मारने के प्रथम इनकी माँ को मार दो। बाँध तभी बँधेगा जब उसकी मूल धारा रोकी जाय। हमने मारीच सुबाहु को मार डाला यह फिर ऐसे ही राक्षस पैदा करती रही तो मुनियों को कष्ट होगा, अतः पहिले मूल को ही निर्मूल करो इसलिये पहिले ताड़का को मारा तब मारीच सुबाहु को।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि मनुष्य धन लुटने से उतना क्रोधित नही होता, अपने अपमान से उतना क्रोधित नहीं होता जितना स्त्रियों के वध से, उनके अपमान से क्रोधित होता है अतः उन्होने ताड़का को मारकर राक्षसों को मानों चुनौती दी कि अब तुम युद्ध के लिये तत्पर होजाओ। मैं समस्त राक्षसों का संहार करूँगा।"

थे। सारांश यह है, कि उनके राज्य में प्रजा को सभी प्रकार के सुख थे।

एक बार महाराज अपने कुछ सैनिक और साथियों को लेकर वन में मृगया के निमित्त गये। राजा ने एक बड़े भारी मृग के पीछे अपना घोड़ा दौड़ा दिया। महाराज घोड़े को पूर्ण वेग के साथ दौड़ाये जा रहे थे, कि उसी समय उन्हें कुछ स्त्रियों के रुदन का आर्तस्वर सुनाई दिया। अब राजा ने घोड़े को रोक दिया। हरिन अपनी इच्छित दिशा में भाग गया। राजा को हरिन की चिन्ता नहीं थी, उनका चित्त तो उस करुणक्रन्दन के श्रवण से द्रवित हो गया था। महाराज ने सोचा—'मृगया तो व्यसन है। क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य तो दीनदुखियों को दुःख से बचाना है, जो क्षत से त्राण करता है वही क्षत्रिय है मेरे राज्य में ऐसा किसका साहस है, जो एकांत अरण्य में अबलाओं को सतावे। स्त्रियों को कष्ट दे।' ऐसा सोचकर महाराज ने उस करुणध्वनि का अनुसरण करके उसी ओर अपना अश्व दौडाया। वह ध्वनि अधिकाधिक करुण होती जाती थी, महाराज ने दूर से ही ललकार कर कहा—"सावधान! सावधान! यह कौन दुष्ट पापाचारी मेरे राज्य में ऐसा अन्याय कर रहा है, कौन मेरे शासन का अपमान कर रहा है। किसे मेरे विशाल धनुष से निकलने वाले बाणों का भय नहीं। कौन अग्नि के साथ खिलवाड़ करना चाहता है, किसके धड पर दो सिर हैं, कौन अपनी अकाल में ही मृत्यु चाहता है। मेरे शासन काल में अबलाओं पर अत्याचार करने का साहस किसे हुआ है। कोई भी दुष्ट क्यों न हो, मैं उसे अभी यमपुर पठाऊंगा, उसके कुकृत्य का फल चखाऊँगा। उसे अपने बाण का लक्ष्य बनाऊँगा इन रोती हुई

स्नेही पुत्र की भाँति निर्भय होकर मुनि से भाँति भाँति के प्रश्न करने लगे। विश्वामित्र जी भी उनके सभी प्रश्नों का अत्यन्त प्यार दुलार के साथ समझा समझा कर उत्तर देने लगे। श्रीराम के लिये ऐसे बीहड़ वन में एकाकी पैदल आना यह प्रथम अवसर था। अतः वे जिस वस्तु को भी देखते, उसी के सम्बन्ध में पूछने लगते। उन्हें विश्वामित्र का आश्रम देखने की बड़ी चटपटी लगी हुई थी। वे राक्षसों से युद्ध करने को बड़े ही लालायित थे, आज प्रातः काल ही विश्वामित्र जी ने उन्हें बहुत से दिव्य अस्त्र संधान उपसंहार विधि के सहित प्रदान किये थे। उनकी परीक्षा करने को श्रीराम अत्यन्त ही समुत्सुक प्रतीत होते थे। उन्होने मुनिसे पूछा—"प्रभो! आपका आश्रम अब कितनी दूर है? हम के दिन में वहाँ पहुँचेंगे?"

विश्वामित्र ने श्रीराम की ठोढी में हाथ लगाते हुए उनके कपोल को छूकर कहा—"अरे वेटा! अब कहाँ दूर है? अब तो हम आ गये। देखो, यह तो ताड़का वन है, इससे आगे एक मुनियों का छोटा सा वन और है। उसी के आगे मेरा सिद्धाश्रम है।"

राम ने उत्सुकता से पूछा—"भगवन्! आपके आश्रम का नाम सिद्धाश्रम क्यो पड़ा?"

विश्वामित्र बोले—"रामभद्र तुमने सुना होगा, पुराण पुरुष विष्णुने इन्द्रको त्रिभुवन का राज्य देने के लिये वामनावतार धारण किया था. वे कश्यप अदिति के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। उन्होने यही आकर तप किया था और यही वे सिद्ध हुए थे। इसीलिए इसका नाम सिद्धाश्रम है। मैं विष्णु का भक्त हूँ इसी आशा से इस सिद्धाश्रम पर तप कर रहा था, कि कभी साक्षात् विष्णु को यहाँ ले आऊँगा, सो आज मेरा

का अभिमान था, उन्होंने विघ्न विनायक की पूजा नहीं की। विघ्नेश ने सोचा—"ये साहसी मुनि तपस्या के प्रभाव से इन विद्याओं को वश में तो कर लेंगे, किन्तु अभिमान में क्रोध छिपा रहता है। जहाँ इन्हें क्रोध आया, तहाँ ये सब विद्यायें अन्तर्हित हो जायँगी।" यही सोचकर विघ्न विनायक सूक्ष्म रूप से राजा के शरीर में प्रवेश कर गये।

राजा के ऐसे वीरता पूर्ण वचन सुनते ही, पूर्व के क्षत्रिय होने के संस्कारों के कारण मुनि को क्रोध आ गया। क्रोध आते ही वे सभी विद्यायें विलुप्त हो गईं। मुनि का साधन व्यर्थ हो गया। क्रोध तो पाप का मूल है। मुनि ने राजा को डाँटा और कहा—"दिखा तू अपना बल। तेरा क्षात्र बल मेरी तपस्या के आगे तुच्छ है।"

मुनि के मुख से ऐसा सुनते ही महाराज शीघ्रता पूर्वक अश्व के ऊपर से उतर पड़े और तुरन्त मुनि के पैरों में पड़कर बोले—"प्रभो मैंने आपके लिये ये शब्द नहीं कहे थे। मैं तो आपके चरणों का दास हूँ, आपका शिष्य सेवक और आज्ञाकारी हूँ। भगवन्! मैंने आपके धर्म के पालन के निमित्त ये शब्द कहे थे। जो राजा दुखियों के दुख दूर नहीं करता आर्तो की रक्षा नहीं करता, वह धर्म भ्रष्ट माना जाता है। राजा के तीन ही तो धर्म हैं, दान देना, प्रजा की रक्षा करना और प्रतिपक्षियों से रण में युद्ध करना। मैंने जो कुछ कहा था दुखियों के दुःख दूर करने की भावना से कहा था। आपका अपमान करना मेरा उद्देश्य नहीं था, आप मेरे ऊपर क्रोध न करें।"

मुनि ने क्रोध में भर कर कहा—"क्या तुम धर्म का मर्म जानते हो?"

दिखाते हुए कहा—"राघव ! सामने जो तुम्हें हरा-भरा आश्रम दिखाई दे रहा है, वही सिद्धाश्रम है। यहीं मैं रहता हूँ, इसे तुम अपना ही समझो।" श्रीराम दूर से ही आश्रम को देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। उसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर सघन वृक्ष लगे हुए थे। जिन पर बैठे भांति-भांति से पक्षी कलरव कर रहे थे। मोर, चकोर, हंस, सारस, कारंडव समीप से सरोवरों के निकट किलोलें कर रहे थे। बहुत से वृक्ष फलो से लदे हुए थे। बहुतों पर पुष्प लगे थे। उन सबके थाले बने थे। वल्कल वस्त्र पहिने मुनिगण उनमे पानी दे रहे थे। बड़ी-बड़ी लताओं की स्थान स्थान पर कुंजें बनी थीं। विविध पुष्पों की दिव्य सुगन्धि से सम्पूर्ण आश्रम सुगन्धित हो रहा था। यज्ञ के धर्म की सुरभि आकाश मण्डल में व्याप्त होकर वायु को सुवासित कर रही थी। हरी-हरी मंजरी युक्त तुलसी स्थान-स्थान पर लगी हुई थी। केले के फलयुक्त वृक्ष हिल-हिल कर अतिथियो का स्वागत कर रहे थे। मृग इधर से उधर स्वच्छन्द फिर रहे थे। कहीं समाके चावल सूख रहे थे। कहीं वल्कल वस्त्र फैलाये हुए थे। कही समिधाएँ पड़ी थीं, कही कुशाओं के गठ्ठर रखे थे। उस आश्रम को देखकर श्रीराम का मन मयूर नृत्य करने लगा। आश्रम के मुनियों ने जब श्रीराम लक्ष्मण के साथ आते हुए श्री विश्वामित्र जी को देखा तो वे सभी अपने-अपने कार्यों को छोड़ कर उनके स्वागत के लिये दौड़े। सभी ने मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। मुनि ने आश्रम की कुशल पूछी। सबने मुनि का तिथिगत किया और श्रीराम लक्षणम का भी अतिथि सत्कार किया।

हाथ पैर धोकर श्रीराम लक्ष्मण ने आचमन किया

यह सुनकर विश्वामित्र ने कहा—"राजन्! यदि आप सत्य प्रतिज्ञ हैं, तो मुझे अपना सम्पूर्ण राज्य दे दो। यह समुद्रों से घिरी जितनी तुम्हारी पृथ्वी है, उस पर तुम अपना अधिकार मत समझो। इसमे जितने नगर हैं, ग्राम हैं, पुर, पत्तन, वन, उपवन, तुम्हारे रथ, हाथी, घोड़े, कोठार, कोष, धन जो भी कुछ है सर्वस्व मुझे दे दो। अपने स्त्री बच्चे शरीर और धर्म को तुम अपने पास रखो। धर्म ही एक ऐसा बन्धु है, कि सबके छोड़ देने पर भी साथ नहीं छोड़ता, वह परलोक में भी कर्ता के साथ जाता है।"

यह सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। राजा तो डर रहे थे, मुनि क्रुद्ध होकर न जाने क्या शाप दे डालें। अब जब राज्य लेकर ही वे सन्तुष्ट हैं तब तो राजा परम प्रमुदित हुए। मुझसे बड़ा भाग्यशाली कौन होगा, जो इतने बड़े महर्षि मेरे सर्वस्व दान को स्वीकार करेंगे। अत्यन्त आह्लाद के साथ राजा ने कहा—"भगवन्! यह मुझे सहर्ष स्वीकार है। मैं अपना सर्वस्व आपको समर्पित करता हूँ। आप मेरे सर्वस्व के स्वामी हैं।"

इस पर विश्वामित्र जी बोले—"अब यह सप्तद्वीपा वसुन्धरा किसके आधीन में है?"

राजा ने नम्रता के साथ कहा—"यह समस्त धन धान्य से पूर्ण पृथ्वी आपके अधीन है और मैं भी सपरिवार आपका किंकर हूँ। अब आप जो भी उचित समझें मुझे आज्ञा दें।"

विश्वामित्र जी बोले—"राजन्! यदि आप यथार्थ में मन से मुझे अपना सर्वस्व दान कर चुके हैं, तो अपने राज मुकुट को, वस्त्राभूषणों को, तथा अपनी पत्नी और पुत्र के वस्त्राभूषणों को यहीं छोड़कर मेरे राज्य से बाहर हो जायें। आपको मेरी पृथ्वी

प्रथम दिन शकुशल समाप्त हुआ। द्वितीय दिन राम बड़ी उत्सुकता से राक्षसों की प्रतीक्षा करते रहे कोई नहीं आया। तृतीय दिन उन्होंने बड़ी सावधानी रखी, चतुर्थ दिन भी जब कोई राक्षस नही आया तो वे निराश होगये। पचम दिन उन्होने समझा अब कोई राक्षस न आवेगा। छठे दिन ज्यो ही पूर्णाहुति अवसर आया, त्योंही आकाश मे जल भरे मेघो के समान आते हुए राक्षस दिखाई दिये। शीघ्रता से सावधान होकर श्रीराम ने लक्ष्मल से कहा–लक्ष्मण! लक्ष्मण! देखो, देखो, वे दुष्ट राक्षस आकाश में मंडराने लगे। अवश्य ही ये मुनि के मख मे विघ्न करने आये है, इन्हें मारना हमारा परम धर्म है। तुम सावधान हो जाओ।

यह सुनकर लक्ष्मण बाण तानकर सम्हल कर खड़े हो गये। इतने मे ही यज्ञ कुंड के समीप राक्षसो ने रुधिर की वर्षा की। उसी समय मारीच को लक्ष्य करके बिना फर का बाण राम ने उसको मारा, बाण के लगते ही वह सैकड़ों योजन समुद्र के उस पार लंका में जा पड़ा। राम जी ने उसके प्राण इसलिये नहीं लिये कि उसके द्वारा आगे भी असुर संहारका बहुत कार्य कराना था। दूसरा एक बाण फर सहित मारा, वह सुबाहु की छाती में जाकर लगा, उससे वह मरकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। एक बाण और भी छोड़ा, जिससे बहुत से राक्षस मर गये, बहुत से डरकर भाग गये, बहुत से घायल हुये।

राक्षस के मारे जाने पर विधिवत यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। मुनियों ने विश्वामित्र का अभिनन्दन किया। सभी ने श्रीराम के बल, वीर्य, पराक्रम, ओज, तेज और शूरवीरता की प्रशंसा की। दोनों भाइयों ने तप से सिद्ध हुए मुनि के पाद पद्मों में उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार अश्विनी कुमारों ने अपने पिता सूर्य के पाद पद्मों में प्रणाम किया था। मुनि ने दोनो राजकुमारों

विश्वामित्र बोले—"तुम्हारे पास कुछ हो, या न हो तुम्हें मुझको दान की सङ्गता तो देनी ही चाहिये।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ, धर्म को नहीं छोड़ सकता, जैसे भी हो आपको दान की साङ्गता मैं अवश्य दूँगा।"

मुनि ने कहा—"कुछ अवधि बताओ, कितने दिन तक मैं प्रतीक्षा करूँ।"

राजा बोले—भगवन् एक महीने आप प्रतीक्षा करें।"

विश्वामित्र ने सन्तोष के स्वर में कहा—"अच्छी बात है, महाराज ! आपकी बुद्धि सदा धर्म में बनी रहे। आप भूलें नही। मेरे राज्य से बाहर हो जायँ।"

राजा वल्कल वस्त्रों को लपेटे पैदल ही जा रहे थे। उनके पीछे रोती हुई बच्चे की उँगली पकड़े महारानी शैव्या भी चल रहीं थीं। इसी समय हजारों लाखों स्त्री पुरुषों ने चारों ओर से आ-आकर राजा रानी को घेर लिया था। वे सब नेत्रों से निरंतर आँसू बहा रहे थे। उनके अश्रुओं से वहाँ की धूलि कीचड़ हो गई थी वे बिलखते हुए कह रहे थे—"हे प्रजावत्सल महाराज ! आप हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं। आप तो हमारा पुत्रों के समान पालन करते थे, अब आप हमें निराश्रित छोड़कर अकेले ही क्यों जा रहे हैं। हा ! विधाता की इस अत्यन्त क्रूर गति को धिक्कार है, जो महाराज सुवर्ण की पालकी में सदा चलते थे, जिनके आगे पीछे सहस्रों मंडलीक भूपति हाथ बाँधे चला करते थे, जिनके सेवक, सुवर्ण के आसन वाले हाथियों पर चढ़कर चलते थे, वे ही महाराज आज पैदल जा रहे हैं ! जिन महारानी शैव्या के दर्शन सूर्य को भी दुर्लभ थे, आज वे बच्चे को गोद में लिये हुए स्वयं पैदल जा रहीं हैं। विधाता को धिक्कार है।

राजा ने दीनता के स्वर में कहा—"नहीं, प्रभो ! मुझसे भूल हुई। मैं अविलम्ब जाता हूँ।"

यह कहकर राजा आगे बढ़े और अपनी पत्नी को भी शीघ्र चलने को कहने लगे। महारानी शैव्या को पैदल चलने का अभ्यास ही नहीं था। वे कभी महलों से बाहर पैदल निकली ही नहीं थी। पृथुल नितम्ब और उत्तुङ्ग पीन पयोधरों के भार से उनकी क्षीण कटि बार-बार लचजाती, उनके पैर बालू में धँस जाते और वे आगे बढ़ने में अपने को असमर्थ पातीं राजा उन्हें हाथ पकड़कर खींच रहे थे, वे कटी लता के समान मूर्तिमती क्लेश वेदना के समान-पति के हाथ के सहारे खिंची चली जा रही थीं। विश्वामित्र जी ने समझा रानी जाना नहीं चाहती। अत: उन्होंने पीछे से आकर रानी की पीठ में दो डंडे जमाये। सुकुमारी महारानी उस आघात को न सह सकीं वे तिलमिलाकर पृथ्वी पर गिरना ही चाहती थीं कि राजा ने उन्हे पकड़ लिया। कुमार रोहित रोने लगे। उस समय आकाश में पाँच विश्वदेव इस करुण दृश्य को देख रहे थे वे आपस में कहने लगे—"यह विश्वामित्र तो बड़ा क्रूर है, इन इतने बड़े धर्मात्मा राजा को राज्यच्युत करके इतना क्लेश दे रहा है। इसे किन नरकों की यातनायें सहनी पड़ेगी ?"

विश्वामित्रजी ने विश्वेदेवो की बातें अपने योग बल से सुन ली और क्रोध में भरकर शाप दिया—"कि तुम लोगो का जन्म मनुष्य लोक में हो, तुम देवत्व से भ्रष्ट हो जाओ।"

यह सुनकर विश्वेदेवों के तो मुख फक्क पड़ गये, आकर ऋषि की अनुनय विनय करने लगे। ऋषि ने कहा—"अच्छी बात है, मनुष्य तो होगे ही, किन्तु तुम शीघ्र ही मनुष्य योनि से छूट जाओगे, तुम्हारा विवाह न होगा। तुम अविवाहित रहकर ही

कर रहे हैं। धर्म का पालन दुःख उठा कर ही तो किया जाता है।" यह सोचकर राजा ने धैर्य धारण किया। कुमार और रानी को पानी पिलाया। फिर स्वयं सरोवर में गये स्नान करके पानी पिया।

अब राजा ने सोचा—"सम्पूर्ण पृथ्वी तो हमने महामुनि विश्वामित्र को दान में दे दी। अब हम कहाँ चलें। सोचते-सोचते महाराज के मन में यह बात आई कि दिव्य वाराणसी-पुरी भगवान् विश्वनाथ के त्रिशूल पर अवस्थित है। इसकी गणना मनुष्यों की रहने योग्य अन्य पृथ्वी में नहीं। इस पर केवल शूलपाणि भगवान् शङ्कर का ही अधिकार है। यह तो मेरे राज्य के बाहर ही है। *अतः मैं वाराणसी में ही जाकर बसूँ।* वहीं कुछ उद्योग करके विश्वामित्र जी के दान की सांगता का प्रबन्ध करूँगा।" यही सोचकर महाराज वाराणसी को ही लक्ष्य करके चल पड़े।

राजा रानी तथा कुमार किसी को नंगे पैर पैदल चलने का अभ्यास नहीं था। जैसे तैसे कन्द मूल खाते हुए राजा अपनी पत्नी और पुत्र के सहित अयोध्या से एक महीने में काशी पहुँचे।

जिस दिन राजा काशी पहुँचे उसी दिन महा क्रोधी विश्वामित्र भी वहाँ पहुँच गये और राजा को डाँटते हुए बोले—"राजन्! एक मास तो हो गया, तुम सत्यवादी होकर झूठ क्यों बोलते हो, मेरी दक्षिणा की सांगता दो।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आज ही तो महीना पूरा हुआ है, अभी पूरा दिन शेष है, मैं कुछ उद्योग करूँगा।"

विश्वामित्र जी ने कहा—"देखिये राजन्! हँसी खेल की बात नहीं है। जैसे भी हो, तैसे तुम मुझे आज दक्षिणा दे दो, यदि आज तुमने नहीं दी, तो मैं शाप देकर भस्म कर दूँगा।"